नवम्बर 2022

# रंग संवाद

रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र की
संवाद पत्रिका

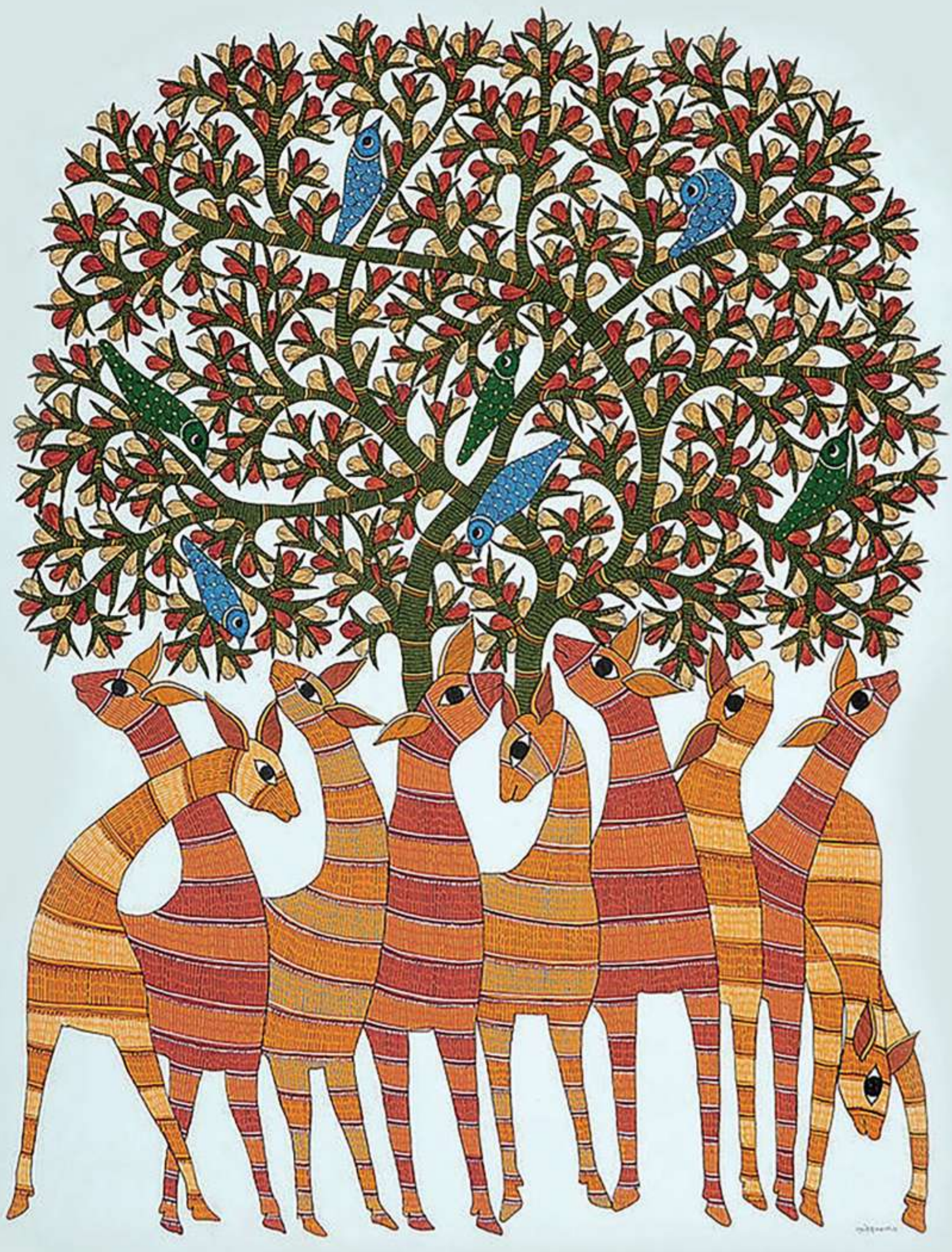

## संवाद के शिखर

TAGORE INTERNATIONAL LITERATURE & ARTS FESTIVAL

विश्व रंग

भारतीय संस्कृति, वैश्विक मंच!

# Vishwarang

## INTERNATIONAL LITERATURE & ARTS FESTIVAL

## 17th to 20th NOVEMBER, 2022

## Highlights

**Vishwarang Pustak Yatra**
22th-30th September 2022

**National Conference on Literature**
10th-20th October 2022

**Partner Country Festival**
1st-10th Novemberer 2022

**Vishwarang Kala Mahotsav**
14th-16th Novemberer 2022

**National Painting Exhibition**
17th-20th Novemberer 2022

*Organised by*

RNTU Rabindranath TAGORE UNIVERSITY™

www.vishwarang.com | Follow us on

# रंग संवाद

**फेडरेशन ऑफ इंडियन पब्लिशर्स, दिल्ली द्वारा श्रेष्ठ प्रकाशन पुरस्कार से सम्मानित**

नवम्बर– 2022

**टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र**
**रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय की संवाद पत्रिका**

प्रधान संपादक

**संतोष चौबे**
choubey@aisect.org

संपादक

**विनय उपाध्याय**
vinay.srujan@gmail.com

संपादन सहयोग

**मुदित श्रीवास्तव**
samvaad.mudit@gmail.com

शब्दांकन : **अमीन उद्दीन शेख**

**संपादकीय संपर्क:**
टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र, ऋतुरंग प्रकोष्ठ
रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्व विद्यालय
ग्राम मेंदुआ, पोस्ट-भोजपुर, बंगरसिया चौराहा के पास,
भोपाल-चिकलोद रोड, रायसेन-464993
मोबाइल : 9826392428

• • •

ज़रुरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के विचारों से 'रंग संवाद' सहमत हो। किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

**टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र, रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, भोपाल द्वारा प्रकाशित**
ई-मेल : **tagorekalabpl@gmail.com**
**मुद्रक : आईसेक्ट पब्लिकेशन, सी-10, इंडस्ट्रियल एरिया, बगरोदा ( भोपाल )**

## इस बार


- सन्नाटे का भी सुर होता है- किशोरी अमोणकर/06
- अभिनेता के क़र्ज़ पर ज़िंदा रहता है किरदार- मोहन आगाशे/10
- आत्ममुग्धता प्रतिभा की दुश्मन- पं. शिवकुमार शर्मा/14
- बेहतर रचना सदा चुनौती- जावेद अख़्तर/20
- प्रतिबिम्ब देखकर बिम्ब सुधारें- आशुतोष राणा/48
- हरी-भरी रहे परंपरा की अमरबेल!- भज्जू श्याम/51
- हर कला में होती है नाटकीयता- देवेन्द्र राज अंकुर/75
- यह सांस्कृतिक हस्तक्षेप का समय है- संतोष चौबे/113

● **विनय उपाध्याय**

- मैं निर्देशक को नाटक का समानांतर लेखक मानता हूँ- प्रभाकर श्रोत्रिय/23

● **जयदेव तनेजा**

- मनोरंजन क्षणिक होता है, भक्ति की लौ देर तक जलती है- शोभना नारायण/29

● **चित्रा शर्मा**

- संगीत में कविता की आवाज़ बची रहे- मंगलेश डबराल/32

● **बलराम गुमास्ता-विनय उपाध्याय**

- सिनेमा हो या रंगमंच अभिनय ही कसौटी- टॉम आल्टर/37

● **ममता तिवारी**

- जिसके पास जुनून नहीं, वो कलाबाज़ है, कलाकार नहीं- शेखर सेन/42

● **सुदीप सोहनी**

- माँ की याद दिलाते मेरे चित्र- प्रमोद गणपत्ये/46
- उत्कृष्टता पत्थर की लकीर नहीं- गगन गिल/62

● **पंकज शुक्ला**

- रंगकर्म सुधारना है तो अनुदान की व्यवस्था बदल दो- राजीव वर्मा/55

● **राजीव शुक्ला**

- महत्वाकांक्षाओं से लदा है रंगमंच- संजय उपाध्याय/66

● **एकता गोस्वामी**

- नदी से माँगी माँ की बेटी हूँ- शारदा सिन्हा/71
- विरासत का संस्कार मेरी पूँजी- यतीन्द्र मिश्र/84

● **अनुलता राज नायर**

- कुपात्र को संगीत सिखाना और सुपात्र को न सिखाना दोनों ही पाप- नित्यानंद हल्दीपुर/81

● **सुनीता सिंह**

- जीवन को व्यवसाय न बनाएँ- राजेन्द्र गुप्ता/89

● **निर्मला डोसी**

- संघर्ष से जागा कलाकार हूँ- जयंत देशमुख/100

● **मनोज नायर**

- 'कामायनी' का अनुवाद चुनौती था- रतन चौहान/104

● **विक्रांत भट्ट**

- ज़िंदगी और रंगमंच के बीच एक पतली रेखा- विभा मिश्रा/108

● **कमल कुमार**



➲ **आवरण चित्र:** जनगढ़ सिंह श्याम ➲ **आवरण आकल्पन :** वंदना श्रीवास्तव

➲ **भीतर का आकल्पन :** विनय उपाध्याय, अमीन उद्दीन शेख ➲ **सहयोग :** समीर चौधरी, रोहित श्रीवास्तव, हेमंत देवलेकर, अनुराग तिवारी, उपेन्द्र पटने

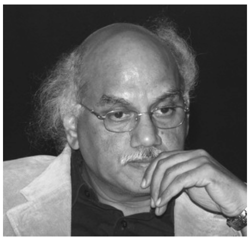

# विश्वरंग
# एक सांस्कृतिक हस्तक्षेप

संपादकीय

टैगोर अंतरराष्ट्रीय साहित्य एवं कला महोत्सव 'विश्व रंग' में आपका स्वागत है। यह शायद देश में पहली बार है कि कोई शैक्षणिक संस्थान रबींद्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय एवं डॉ. सी. वी. रामन् विश्वविद्यालय इस तरह का साहित्य एवं कला महोत्सव आयोजित कर रहे हैं। कई अन्य साहित्य उत्सवों के बदले विश्व रंग हिंदी और भारतीय भाषाओं को केन्द्रीयता प्रदान करता है। एक ओर तो यह हिंदी और भारतीय भाषाओं के बीच आपसदारी और परस्पर सम्मान का रिश्ता क़ायम करना चाहता है तो दूसरी ओर बोलियों से भी एक रसभरे संवाद की शुरुआत भी इसका उद्देश्य है।

इस पृष्ठभूमि में, मैं विश्व रंग की हमारी अवधारणा स्पष्ट करना चाहता हूँ। विश्व रंग की हमारी अवधारणा, विश्व के बारे में हमारी समझ से ही निकलती है। यदि आप सचेत रूप से अपने आस-पास देखें तो पाएँगे कि विकास की जो प्रक्रिया हमने अपनाई है और प्रकृति का जिस तरह अंधाधुंध दोहन किया जा रहा है वह स्वयं हमारे अस्तित्व के लिये ही घातक होता जा रहा है। दूसरी ओर बायोटेक्नॉलॉजी एवं बायो इनफर्मेटिक्स के कन्वर्जेंस से जिस तरह के मनुष्य के निर्माण की बात की जा रही है उससे इस बात में भी संदेह पैदा होता है कि क्या मनुष्य स्वयं वैसा बचा रह पाएगा जैसा कि हम उसे जानते हैं। तीसरे, टेक्नॉलॉजी ने जीवन की गति इतनी तेज़ कर दी है कि उसे जानना पहचानना ही मुश्किल होता जा रहा है। हमें जीवन को समझने के लिये नये नक़्शों और नये को-आर्डिनेट्स की तलाश करने की ज़रूरत महसूस होने लगी है। मुझे लगता है कि जीवन के नये उपकरणों को तलाशने के साधन विज्ञान के पास उतने नहीं हैं जितने कला, संस्कृति और संगीत के पास हैं। विश्व के तमाम रचनाकारों, कलाकारों और संगीतज्ञों को इस संबंध में बातचीत शुरु करनी चाहिये और एक प्रभावी हस्तक्षेप करना चाहिये। विश्व रंग इसी दिशा में एक शुरुआत है।

**'रंग संवाद' का यह अंक एक ऐसा ही मंच है जहाँ साहित्य और कलाओं के इर्द-गिर्द उभर रही आवाज़ों को एक साथ सुना जा सकता है। कुल मिलाकर यह सांस्कृतिक संवादों का कोलाज है। 'विश्व रंग' के अवसर पर ये भेंटवार्ताएँ भी ज़रूरी हस्तक्षेप की तरह है। विश्व रंग का आयोजन इस उम्मीद के साथ किया जा रहा है कि भारत और विश्व के अन्य देशों के बीच साहित्यिक, सांस्कृतिक संवाद को और मजबूत किया जा सके, संवाद और सहयोग ज़्यादा गहरा हो तथा आशा और प्रेम के मूल रंगों से पहचान बढ़े।**

विश्व रंग का आयोजन इन्हीं आधारों पर किया जा रहा है। इसमें विश्व कविता एवं विश्व में हिंदी के सत्र आयोजित हैं, वहीं प्रवासी भारतीय साहित्य को भी उतना ही स्थान दिया गया है। यह उत्सव हिंदी और भारतीय भाषाओं को केंद्रीयता प्रदान करता है और उनमें आपसी भाईचारे और सम्मान की भावना

विकसित करना चाहता है वहीं दूसरी ओर यह बोलियों से भी रस ग्रहण करना चाहता है जिनके बिना भाषा बहुत विपन्न होगी। यह युवा रचनात्मकता पर ज़ोर देता है और छूटे हुए समूहों जैसे थर्ड जैंडर तथा दिव्यांग को शामिल करना चाहता है। साहित्य, कला, रंगमंच और संगीत का यह वृहद आयोजन आज के समय में कलाओं की अंर्तसम्बद्धता को रेखांकित करने का एक प्रयास भी है।

विश्व रंग साहित्य, शिक्षा, संस्कृति और भाषा में काम करने वाले रचनाकारों के बीच वैश्विक विमर्श की शुरूआत है। देश और विदेश के लगभग 100 विश्वविद्यालय एवं संस्थायें इसमें शामिल हैं, जिनमें आपसी बातचीत एवं शैक्षणिक नेटवर्क का निर्माण इस कार्यक्रम का बड़ा हासिल होगा। देशभर में लगभग 1000 शीर्षस्थ रचनाकार इसमें शिरकत करते रहे हैं और उम्मीद है कि उनके बीच संवाद का रिश्ता कायम होगा और सबसे बढ़कर, हिन्दी और भारतीय भाषाओं को केन्द्रीयता प्रदान करने का प्रयत्न किया जायेगा।

'विश्व रंग' के अंतर्गत अब चार पत्रिकाओं का प्रकाशन किया जाता है। जहाँ 'विश्व रंग' पत्रिका वैश्विक संदर्भों को समेटती त्रैमासिक पत्रिका है वहीं 'वनमाली' कथा केंद्रित पत्रिका है जिसने थोड़े ही समय में 'कथा विश्व' में अपना स्थान बनाया है। कला पर केंद्रित 'रंग संवाद' पिछले बारह वर्षों से प्रकाशित है तो हिंदी में विज्ञान विषयों पर केंद्रित पत्रिका 'इलेक्ट्रॉनिकी' देश की एकमात्र पत्रिका है जो पैंतीस से अधिक वर्षों से प्रकाशित है। अब ऑनलाइन पत्रिकाओं और समूहों ने भी अपना स्थान बनाया है। 'अनन्या' क़रीब दस देशों से, 'साझा संसार' नीदरलैंड्स और यूरोप के अन्य देशों से, 'भारत दर्शन' न्यूज़ीलैंड से ऑनलाइन प्रकाशित है। भारत सहित अमेरिका, ब्रिटेन, नीदरलैंड्स, सिंगापुर, आस्ट्रेलिया और अन्य देशों में कई ऑनलाइन समूह कार्य कर रहे हैं जो सालभर में 100 से अधिक संगोष्ठियाँ आयोजित करते हैं। ऑनलाइन प्रकाशनों, ब्लॉगिंग और ऑनलाइन प्लेटफॉर्म्स में भी अभूतपूर्व वृद्धि हुई है।

तेज़ी से बदलते समय में कोई भी भविष्य की घोषणा नहीं कर सकता पर विश्व रंग एक ऐसी रचनात्मक समावेशी प्रक्रिया की शुरुआत करना चाहता है, जिसमें कलाएँ मानव व मानवीय संवेदनाओं के पक्ष में खड़ी हों। सस्टेनेबल डेव्लपमेंट हमारी चिंता के केन्द्र में हो और हिंदी तथा भारतीय भाषाओं को विश्व में उचित स्थान मिले, रचनात्मक विस्तार की जगह मिले। राष्ट्र के भीतर उनमें आदान-प्रदान बढ़े। आगे भी हमारी कार्यवाही का आधार उपरोक्त अवधारणायें ही होंगी। विचार के साथ-साथ हम एक्शन पर भी बल देंगे। इसी से आगे के रास्ते प्रकाशित होंगे।

एक बार पुनः मैं आप सबका बहुत स्वागत करता हूँ।

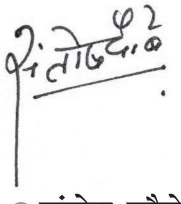

**संतोष चौबे**
प्रधान संपादक

# संवाद के शिखर

संवाद आत्मा की ज़रूरत है। मैं उसे एक तरह की भूख मानता हूँ, जिसे मनुष्य ने उस 'आदि क्षण' में महसूस किया होगा, जब उसे लगा होगा कि वह मनुष्य है, अपने में अकेला है, लेकिन ख़ुद के साथ है। हम अपनी आँखों से अपने को नहीं देख सकते, लेकिन दूसरों को देख सकते हैं और हमें यह आशा बँधती है कि हम भी उन्हीं की तरह होंगे। वे हमारा, हमारी देह और आत्मा का आईना-सा बन जाते हैं। इस तरह एक-दूसरे को देखने की प्रक्रिया में शब्द का जन्म हुआ होगा। वह 'मैं' भी है और 'दूसरा' भी। शब्द केवल संवाद का माध्यम नहीं, हमारे होने का साक्षी भी है। हमारे होने का रहस्य उसके भीतर निहित है। इसलिए शब्द शुरू में था और हम उसमें शुरू हुए हैं।

कथाकार निर्मल वर्मा के इस कथन से गुज़रते हुए 'रंग संवाद' के इस विशेषांक में एकत्र साक्षात्कारों के आसपास ठहरकर संवाद की अहमियत को समझा जा सकता है। 'विश्वरंग 2022' के अवसर पर इन्हें आप तक पहुँचाते हुए हमें प्रसन्नता है। यह इसलिए भी मानीखेज़ है कि 'विश्वरंग' भी संवादों का महागान है। अदब और तहज़ीब की रंग-ओ-महक के बेमिसाल सिलसिलों को अपनी आगोश में थामता विराट उत्सव। महास्वप्न। एक आन्दोलन। एक अभियान। एक मिशन। हमारे वक़्ती दौर के ज़रूरी और ज्वलंत मुद्दों और विषयों पर बहस-मुबाहिसों का एक ऐसा समावेशी मंच, जहाँ तमाम खानाबंदियों से निकलकर विचार की खुली साँस भरी जा सकती है। यानी सांस्कृतिक परस्परता का एक विराट समागम।

यह अंक 'विश्वरंग' के गर्भ से उभरती विचार की उष्मा को एक हद तक थामने की कोशिश है। कला और साहित्य की दुनिया में अविचल सक्रिय, सिद्ध-प्रसिद्ध मनीषी हस्ताक्षरों से किये गये साक्षात्कारों का यह चयन सिर्फ़ कुछ तयशुदा सवालों के औपचारिक जवाब नहीं है। विमर्शों की नई दिशाएँ यहाँ खुलती हैं। हमारे पूर्वाग्रह टूटते हैं। संघर्षों में तपकर अपनी आभा में उजली शख़्सियतों की ज़िदों पर, उनके जुनून और अपराजेय मंसूबों पर गर्व होता है। ये वे भेंटवार्ताएँ हैं जिन्हें 'रंग संवाद' के पिछले अंकों में हमने प्रकाशित किया था। पाठकों ने इन्हें बेपनाह पसंद किया था। प्रतिक्रियाओं ने हमारा मनोबल बढ़ाया। साक्षात्कार 'रंग संवाद' के लिए अपरिहार्य से हो गये। इन विरल वार्ताओं के लिए सभी विभूतियों का सविनय आभार। अपने सवालों और जिज्ञासाओं के साथ शरीक हुए भेंटकर्ताओं के लिए भी 'रंग संवाद' का विशेष आभार। सार्थक संवाद की कसौटी यही है कि शंकाओं और प्रश्नों को बुद्धि की चारदीवारी से उठाकर जीवन के कुरूक्षेत्र में सहजता से प्रस्तुत किया जाए।

आप ग़ौर करेंगे कि संवाद के इन शिखरों को छूकर हमारा सामाजिक-सांस्कृतिक मानस समृद्ध होता है। हमारी संवेदना पिघलती है। कई द्वन्द्वों का समाधान होता है। प्रेम और करूणा का रसायन जब उमड़ता है तो मनुष्यता ऐसी ही मुस्कुराती है।

जीवन के सुमंगल की कामना के साथ आपके हाथों में 'रंग संवाद' का यह अंक।

आपकी प्रतिक्रिया की हमें प्रतीक्षा रहेगी...।

**विनय उपाध्याय**

**जब तक देह है, तब तक सुर हमारा है लेकिन हमारी मृत्यु के बाद भी वह इस संसार में क़ायम रहता है। मेरा साफ़ मानना है कि किसी भी विषय से आत्मा की अनुभूति होना ही अध्यात्म है। मैं पूरे समय संगीत के विश्व में विचरण करती हूँ। मैं सुर से परे जाना चाहती हूँ। सन्नाटा मेरे जीवन में है ही नहीं क्योंकि सन्नाटे का भी सुर है और सुर हमेशा मेरे पास है।**

# सन्नाटे का भी सुर होता है

किशोरी अमोणकर

स्वर के साथ एक अविरल, अंतहीन, अटूट सिलसिला है जो उनकी आत्मा में लयबद्ध होता उन्हें दिव्य अनुभूतियों के शिखर पर ले जाता। वे राग-स्वरों से रिश्ता बनाती संवेदनाओं की अतल गहराइयों में उतरतीं एक अमूर्त यात्रा करती हैं और आनंद के उस परमतत्व की तलाश करतीं हैं। जहाँ अहंकार और विकार की मलिनता का प्रक्षालन संगीत के पावन स्वरों से होता है। संगीत उनके लिए ईश्वर, रंगशाला एक मंदिर की तरह, जहाँ वे स्वर की जोत जलाकर विराट को मनुहारतीं। वे स्वर के साथ आध्यात्मिक उड़ान भरती हैं और इच्छा होती है कि ''सुर से आगे निकल जाऊँ!''

हमारे कला समय की विलक्षण गायिका और संगीत विदुषी किशोरी अमोणकर की साधना का सच यही है। अस्सी के आसपास फैल गयी आयु ने भले ही किशोरी की देह को कुछ थका दिया हो लेकिन इसी देह के कंठ से झरते राग-स्वर अब भी उस अनंत को टेरते हैं जहाँ पहुँचकर समाधि को अनुभव किया जा सकता है।

मौसिक़ी से सतही आनंद का रिश्ता जोड़ने वालों को एक फ़नकार की यह फ़ितरत और ज़िद अतिरंजित लग सकती है लेकिन आचरण, अभ्यास और अनुशासन की ज़मीन पर साँस थामने वाले कलाकार की तल्लीनता ऐसे ही दुर्गम शिखरों के रास्ते नापती है। किशोरी अमोणकर की तल्लीनता और समर्पण का यह सामर्थ्य यक़ीनन उनके बुनियादी संस्कार तालीम और तपस्या का ही नतीजा हैं। उनसे मिलना, वाग्देवी की प्रभा से आलोकित होना है। उनके कला स्वाभिमान और ज्ञान-ध्यान से सारी दुनिया परिचित है। स्वाभिमान की हदों से आयोजक भली तरह वाक़िफ़ हैं और ज्ञान के उच्च धरातल से संगीत के विद्यार्थी और जिज्ञासु। लेकिन अतिरिक्त मान-पान की ठसक और तमाम पूर्वाग्रहों को किनारा कर किशोरी ताई ने जब भारत भवन (भोपाल) की 'महिमा' श्रृंखला की पहली सभा की शोभा बनने पर हामी भरी तो आयोजकों की बाँछें खिल गयीं। एक मुद्दत बाद भोपाल में किशोरीजी की सुरीली दस्तक से रसिक बिरादरी ख़ुश थी।

याद आता है कि भारत भवन में पहला प्रवास 1995 में जयपुर घराने पर केन्द्रित संगीत समारोह के निमित्त हुआ था जबकि 2007 में इस कलाघर के ही आग्रह पर विशेष रूप से सुबह और शाम की सभाओं में गायन के लिए वे प्रस्तुत हुई थीं। एक लंबे अंतराल के बाद 'महिमा' की सभा के लिए वे राज़ी हुईं। शुरू के दो प्रवासों में 'ताई' को साधना आयोजकों के लिए थोड़ा कठिन था लेकिन अबकी दादर (मुंबई) से उड़ान भरते ही वे बेहद तरल-सरल मिज़ाज़ थीं। तीन दिन रहीं। जब एक शाम का कुछ वक़्त बातचीत के लिए मैंने चाहा तो सहज राज़ी हो गयीं। होटल जहाँनुमा में गुफ़्तगू का दौर देर तक चला। साथ रहे सुकवि और भारत भवन के मुख्य प्रशासनिक अधिकारी प्रेमशंकर शुक्ल, संगीत के दार्शनिक पहलुओं से लेकर निजी जीवन के कई पोशीदा घटना-प्रसंगों तक संवाद बहता चला गया।

मसलन यही कि क्रिकेट उन्हें बिलकुल पसंद नहीं लेकिन वे टेबल टेनिस की चेंपियन रहीं। तेज़ धावक रहीं। कैरम बहुत अच्छा खेलती हैं और कई बार अपनी पोती (तेजस्वी) से बाज़ी जीत लेती हैं। रसोई में उनका मन ख़ूब रमता है। चपाती सुडौल बनें इस बात का ख़ास ख़्याल रखती हैं और सब्ज़ी को कलात्मक ढंग से काटना उन्हें अच्छा लगता है। रांगोली बहुत सुन्दर बनाती हैं। बताती हैं कि एक बार उन्होंने 'शीरीं-फ़रहाद' की तस्वीर रांगोली पर उकेरी। जब एक फ़ारसी राहगीर ने उसे देखा तो मुग्ध हो गया और उसने अपने गले की माला मुझे भेंट कर दी। बक़ौल किशोरीजी उन्हें मध्यप्रदेश की चन्देरी कॉटन साड़ियाँ बेहद पसंद हैं। जयपुरी कोटा भी ख़रीदती हैं। फेरेनहाइट परफ़्यूम की महक से उनका गहरा रिश्ता है। लड्डू का ज़ायका लगभग रोज़ लेती हैं और ख़ुद बनाकर खिलाने में ख़ुश होती हैं। बाग़वानी का बेहद शौक़ है।

वनस्पतियों से इतना लगाव है कि उनसे रोज़ बातें करती हैं। मुंबई से अन्यत्र प्रवास पर जाने के पहले गमलों-क्यारियों से कहकर विदा लेती हैं। बताती हैं कि एक बार बिना बताए चली गई तो कुछ दिन बाद लौटकर देखा हरीभरी बेल सूख गयी थी। किशोरीजी रोज़ सुबह-शाम दो घंटे भगवान की पूजा करती हैं। ख़ुद अपने हाथों से सुन्दर माला बनाती हैं और भगवान का संपूर्ण श्रृंगार करती हैं। शोलापुर के राघवेन्द्र स्वामी उनके आध्यात्मिक गुरु हैं जिन्होंने उन्हें एक रात स्वप्न में दर्शन दिये। गुरु की कृपा को वे सर्वोपरी मानती हैं। पिता का निधन तब हो गया जब वे महज छः साल की थी। माँ की छत्र-छाया और उनके कठोर अनुशासन में किशोरी की परवरिश हुई।

माँ श्रीमती मोंगूबाई कुर्डीकर ने अपने गुरु उस्ताद अल्लादिया ख़ाँ से अपने समय में जो सीखा-संजोया, वक़्त आने पर अपनी किशोरी बेटी पर उस पूँजी को न्योछावर कर दिया। माँ ने कठिन अनुशासन, धीरज और शुद्धता के साथ सुर को बरतने और आत्मसात करने के जो गुरु-मंत्र दिये, किशोरीजी ने पूरी निष्ठा से उन्हें अपनाया। हिन्दुस्तानी संगीत के प्रतिष्ठित जयपुर घराने की शैली से शुरूआती नाता जोड़ा, अपनी मौलिक संकल्पनाओं का सुरीला विन्यास तैयार किया और अपनी गायिकी की सर्वथा निजी शैली का आविष्कार किया। किशोरीजी ने संगीत चिंतन की भी अपनी एक धारा प्रवाहित की है। उनकी सृजनात्मक अभिव्यक्तियों और निष्कर्षों को संगीत जगत ने प्रामाणिक तथा उपयोगी माना है।

इन तमाम उपलब्धियों के लिए किशोरीजी को अनेक महत्वपूर्ण सम्मानों से विभूषित किया जा चुका है जिनमें पद्मविभूषण सहित संगीत नाटक अकादेमी पुरस्कार, श्रीमंत भारती तीर्थ महास्वामी द्वारा प्रदत्त गान सरस्वती, प्रेस काउंसिल ऑफ इंडिया का कला शिरोमणि सम्मान, पंडित भीमसेन जोशी स्मृति सम्मान और महाराष्ट्र सरकार द्वारा प्रदत्त महाराष्ट्र गौरव सम्मान ख़ास हैं। मध्यप्रदेश के संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है कि उन्हें इस राज्य के संस्कृति विभाग द्वारा स्थापित राष्ट्रीय तानसेन सम्मान से भी अलंकृत किया जा चुका है। भारत के लगभग सभी स्थापित समारोहों के अलावा किशोरीजी पेरिस, अमेरिका, ब्रिटेन, बेल्जियम, स्विटजरलैण्ड और दुबई सहित दुनिया के अनेक मुल्कों की महफ़िलों में अपनी अद्वितीय गायिकी से श्रोताओं को मुग्ध कर चुकी हैं। उनके गायन की दर्जनों ऑडियो कैसेट्स-सीडीज़ और वीडियो रेकॉर्डिंग जारी की गई हैं। कुछ फ़िल्मों में भी उन्होंने पार्श्व गायन किया है लेकिन सिनेमा के लिए गाना उन्हें ज़्यादा रास नहीं आया।

ये सच है कि किशोरी अमोणकर ने हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत को हमारे समय में मान-महिमा से मंडित किया है। जयपुर-अतरौली संगीत घराने की परंपरा को अपनी प्रयोगशील गायिकी में महफ़ूज़ रखा। विरासत में मिली बंदिशों को अनेक महफ़िलों में गाया और अपनी स्वर-रचनाओं से संगीत के अद्‌भुत संज्ञान का उदाहरण प्रस्तुत किया। किशोरीजी स्वर में आकंठ डूबी एक जीवित किंवदंति हैं। स्वर के ज़रिये अपनी आत्मा के रहस्य को बूझने का जतन करती हैं। उनके अनुसार मेरे लिए स्वर ब्रह्म है। मैं इसके साथ मूर्त से अमूर्त की

यात्रा पर निकल पड़ती हूँ। जब तक देह है, तब तक सुर हमारा है लेकिन हमारी मृत्यु के बाद भी वह इस संसार में क़ायम रहता है। मेरा साफ़ मानना है कि किसी भी विषय से आत्मा की अनुभूति होना ही अध्यात्म है। मैं पूरे समय संगीत के विश्व में विचरण करती हूँ। मैं सुर से परे जाना चाहती हूँ। सन्नाटा मेरे जीवन में है ही नहीं क्योंकि सन्नाटे का भी सुर है और सुर हमेशा मेरे पास है।

प्रश्नों और जिज्ञासाओं का समाधान करते हुए किशोरीजी ने अपने गहरे अनुभव से अर्जित सच का उजास बिखेरा- मेरे लिए संगीत एक सिक्के की तरह है जिसके दो पहलू हैं। एक है संगीत का कलात्मक पक्ष और दूसरा है संगीत के माध्यम से सत्य की खोज और उसका प्रसार। कहा जाता है कि कला में सच का निवास है जिसका यह अर्थ निकलता है कि कला और सत्य दो भिन्न वस्तुएँ हैं या साफ़ शब्दों में, वे वाक़ई एक-दूसरे से भिन्न हैं। मेरा स्पष्ट मानना है कि रूप के बिना कला का अस्तित्व संभव नहीं है और रूप चाहे वह किसी भी तरह का हो सीमा-रेखाओं द्वारा निर्धारित होता है। रूप एक ऐसी चीज़ है जो फ़ौरन दिखाई दे जाती है लेकिन वह किन चीज़ों से बना है यह मालूम करने में वक़्त लगता है। रूप की अन्तर्वस्तु का अध्ययन नितान्त आवश्यक है क्योंकि बिना अन्तर्वस्तु के रूप का अस्तित्व ही संभव नहीं है और अन्तर्वस्तु की गहराई से छानबीन करके ही हम यह जान सकते हैं कि इसके अस्तित्व के कौन से कारण हैं और इसकी आवश्यकता क्या है। अपने विविध मनोभावों, अधिकांशतः अपने सुख और दुःख की असंख्य दशाओं को अभिव्यक्त करने की हमारी आवश्यकता ही इसका कारण है।

संगीत में हमारा गुरु हमें इस कला के अनुशासन की विधिवत शिक्षा देता है, वह हमें सिखाता है कि हम कैसे अपने गायन या वादन को एक सौन्दर्यात्मक रूप दे सकें। उसके मार्गदर्शन और अपनी साधना से हम कला के इस माध्यम पर अधिकार प्राप्त करते हैं।

किशोरीजी बताती हैं कि मेरी भी शिक्षा यहीं से शुरू हुई थी और मैं तब से श्रृंगार, करुण, वीर तथा अन्य रसों को अधिक स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त करने के तरीकों की खोज करती रही हूँ। लगभग सारा जीवन संगीत सीखने और सुनने के बाद मैंने एक नयी राह खोजना शुरू किया। यह ठीक है कि बुद्धि का अन्य क्षेत्रों की तरह संगीत में भी स्थान है। लेकिन संगीत के क्षेत्र में बुद्धि का कार्य विभिन्न मनोदशाओं की संगीतात्मक अभिव्यक्ति का अध्ययन करना ही है। अपनी इस यात्रा के दौरान मुझे रसों के और संगीत में उनकी अभिव्यक्ति के बारे में एक अधिक साफ़ दृष्टि प्राप्त हुई।

धीरे-धीरे मैंने यह महसूस किया कि अलग-अलग शब्दों के अर्थ का जोड़ किसी संगीत रचना की रुह का एहसास नहीं करा सकता। दरअसल ये दो चीज़ें एकदम अलग-अलग हैं। शायद सुगम संगीत में शब्दों के द्वारा एक संगीत रचना की आत्मा सम्प्रेषित की जा सकती है लेकिन शास्त्रीय संगीत में यह सम्प्रेषण केवल स्वरों के द्वारा ही संभव है। इसका कारण यह है कि शब्दों के अर्थ निश्चित हैं जबकि हरेक स्वर का अपना एक विशिष्ट चरित्र होता हैं। सामान्यतः हम सरगम में से वह एक स्वर चुनते हैं जो हमारे मनोभावों के अनुरूप होता है यह स्वर-विशेष संगीत रचना की रूह का जीव-स्वर होता है। इस स्वर के तत्व को स्पष्ट करने के लिए हमें सरगम से कुछ अन्य स्वर भी चुनने पड़ते हैं जो इस जीव-स्वर को पोषित करते हैं और इसे स्वयं को पूरी तरह व्यक्त करने योग्य बनाते हैं। इस तरह हम रसों की असंख्य बारीक़ियों और उनकी संगीतात्मक अभिव्यक्तियों को खोज सकते हैं। इससे संगीतकार के मन में संगीत के माध्यम से अपने व्यक्तिगत संवेगों को अभिव्यक्त करने की लालसा उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

ये संवेग अधिक प्रामाणिक और गहरे होते हैं क्योंकि ये संगीतकार के निजी सुख-दुःख से उत्पन्न होते हैं और क्योंकि संगीतकार इनमें ज़्यादा गहराई से निमग्न होता है, ये सत्य के अधिक निकट होते हैं। इस तरह लीन हो जाना कला के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किन्तु यह तभी संभव हो सकता है जब संगीत के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाने वाला संवेग संगीतकार को अच्छी तरह से मालूम हो। उदाहरण के लिए राग बागेश्वरी के स्वरों और इसकी लयरचना के अध्ययन से एक करुण मनोदशा का पता चलता है। गुरु इस राग की विभिन्न रचनाओं के अस्थायी व अन्तरा के माध्यम से हमें इस मनोदशा को अभिव्यक्त करने में प्रशिक्षित करता है। इन रचनाओं के शब्द हमें इस मनोदशा के मर्म से तत्काल तादात्म्य स्थापित करने में सहायक होते हैं। साथ ही साथ संगीतकार की भावनात्मक अनुभूति, बिना उसके जाने ही, राग की प्रस्तुति पर, जो उसने अपने गुरु से सीखी है, अपना रंग चढ़ाकर उसे सूक्ष्मरूप से बदल देती है। मेरा तजुर्बा है कि राग एक वैयक्तिक व्यग्रता का स्वर धारण कर लेता है जो श्रोता के मर्म को छू लेता है। हालाँकि श्रोता संगीतकार की निजी अनुभूति से अवगत

नहीं होता किन्तु संगीत रचना की प्रस्तुति श्रोता को अपने भोगे हुए दु:ख का स्मरण कराती है। यह श्रोता के हृदय में स्वानुभूति से उत्पन्न करुण रस प्रवाहित कर देती है। इस जगह पर राग का रूप अपनी सहजता के कारण लगभग अदृश्य हो जाता है। कठिन साधना से राग का विन्यास अत्यन्त सुगम हो जाता है। यह विन्यास परम्परा से उत्पन्न होता है। लेकिन जो पारम्परिक है वह अनिवार्य रूप से शास्त्रीय नहीं है। जो पारम्परिक है वह तकनीकी दृष्टि से बिल्कुल सही हो सकता है। लेकिन इससे सिर्फ़ माध्यम के आयाम ही स्पष्ट हो सकते हैं, न कि वह सत्य जो इनमें निहित है।

राग को गाना है तो उसके पूरे मूड को पकड़िए। उसे अभिव्यक्त करिए। इसके लिए तो कलाकार के आत्म को शुद्ध होना होगा तभी राग अपनी शुद्धता में अपने वातावरण को व्यक्त कर पायेगा। कलाकार अच्छा होगा तभी राग की प्रस्तुति अच्छी होगी। कला अच्छी होगी। व्याकरण गाने से राग गाना नहीं होता। राग की शुद्धता कलाकार की शुद्धता पर निर्भर है। नहीं तो उसे राग और उसका वातावरण दिखेगा कैसे!

देखिए, आदमी एक परिवार में जन्म लेता है, परिवेश के अनुसार बड़ा होता है और फिर उस अनुकूल या प्रतिकूल परिवेश में उसका निजी व्यक्तित्व विकसित होता है। घरानों और उनमें विकसित कलाकारों के विकास की कहानी भी इसी तरह की है। एक कलाकार एक व्यक्तित्व है उसके अन्तस में जो है वह उस घराने के परिवेश में बाहर आता है।

मेरे अपने संगीत चिंतन और मनन की अलग प्रक्रिया है। बहुत दिनों तक सोचती रहती हूँ। कोई स्वर कई दिनों तक मेरे साथ रहता है और मैं उससे बतियाती रहती हूँ। उसकी सोहबत में उसे बहुत गहरे में जानने की मेरी चेष्टा होती है। मैंने ऐसे ही तजुरबों का संग्रह किया है। किताब छपकर आयी है उसकी। उसका नाम है– 'स्वरार्थ रमणी'। यह मराठी में है। मैं इसका हिन्दी अनुवाद भी चाहती हूँ। इस काम को वो ही कर सकता है जो संगीत के साथ-साथ हिन्दी और मराठी को भी जानता हो। मराठी भी इस पुस्तक में थोड़ी क्लिष्ट है यानी संस्कृतनिष्ठ है। इस किताब में मेरे पचास सालों के गायन अनुभवों की कथा है और स्वर चिंतन भी। इस सूचना के साथ किशोरीजी जोड़ती हैं कि दुर्भाग्य से संगीत की गहरी समझ रखने वाले सहृदय समीक्षकों की बहुत कमी है जो सही परिप्रेक्ष्य में गायन-वादन और उसके आसपास उभर रहे चिंतन को ठीक ढंग से रेखांकित कर सकें। पर इसके लिए कौन तैयार है?

अपने गान व्यक्तित्व से जुड़े कई अनछुए प्रसंगों को याद करते हुए किशोरीजी उस स्मृति चित्र को रखती हैं, जिसमें उनके गुरु की एक निराली छवि उभर कर आती है। उन्होंने बताया कि वीणा की संगत में उन्होंने कभी नहीं गाया। लेकिन वीणा के प्रति उनके मन में गहरा मान रहा। वे वीणा को संगीत की धरोहर मानती रहीं। इस तारतम्य में वे गुरु स्वामी राघवेन्द्रजी का ज़िक्र करती हैं जो वीणा वादन करते थे। उन्हें इस तरह देखना-सुनना अलौकिक अनुभव होता था।

● ● ●

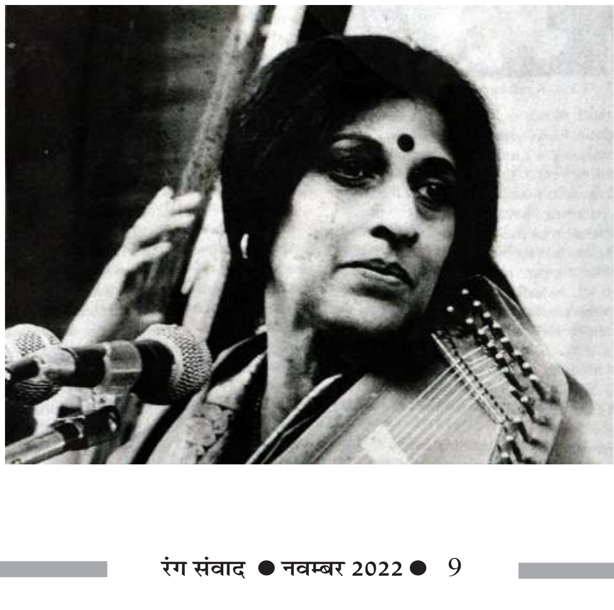

**जीवन मल्टिपल इमोशन से भरा हुआ है, अनुभव से भरा हुआ है। एक किरदार निभाने के लिए आपको अभिनेता के सचमुच के भाव, अनुभाव उधार लेना पड़ते हैं और वह एक ऐसा क़र्ज़ है जो चरित्र कभी अभिनेता को वापस नहीं कर सकता।**

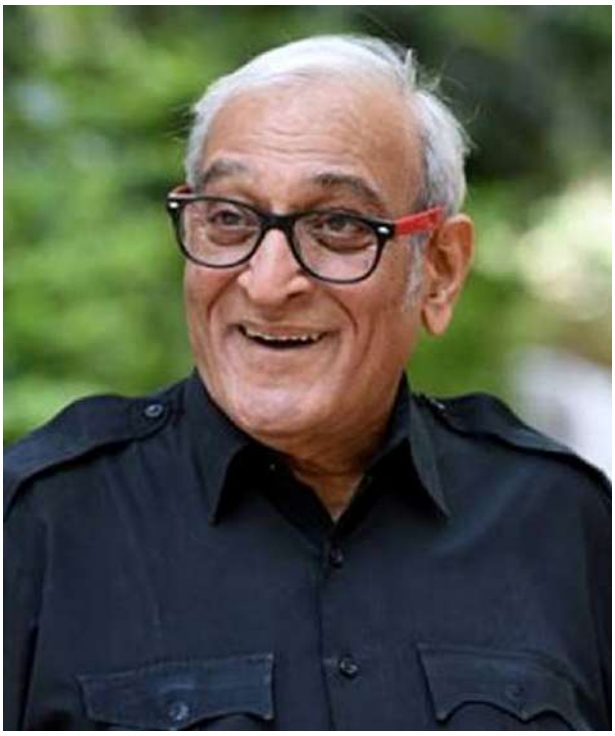

# अभिनेता के क़र्ज़ पर ज़िंदा रहता है किरदार

मोहन आगाशे

**विनय उपाध्याय:** वो कौन सा मुक़ाम था, वो कौन सा लम्हा था जब मोहन आगाशे को ये पता चला कि उनके भीतर एक अभिनेता है?

**मोहन आगाशे:** एक चीज़ ऑनेस्टली बताना चाहता हूँ कि जैसा आप सोचते हैं ऐसा मुझे कुछ हुआ नहीं। मेरा मानना है, कहना है और अनुभव ये है कि हम सारे लोग अपने जीवन का प्रारम्भ एक्टिंग से करते हैं। दो या तीन साल का कोई भी बच्चा या बच्चे एक्टिंग में पारंगत होते हैं। उस उम्र में हम स्टार होते हैं। क्यूँ? हम ख़ुद ही अपने किरदार चुनते हैं। दर्शक भी हम ही चुनते हैं। वो सब हमारे आसपास ही बसे होते हैं। और घर आकर बोलते हैं हमारी टीचर ऐसी-वैसी पेश आती है। फिर उसके हाव-भाव उतारने की कोशिश करते हैं। छोटे-मोटे नाटक तो हम सभी लोग करते ही रहते हैं क्योंकि ज़िन्दगी के बारे में एक बेहतर तरीक़ा, यह इमीटेशन है। आज भी मैं अगर किसी अच्छे आदमी को मिलता हूँ उसकी आवाज़ पसंद है, उसकी ख़ूबियाँ पसंद हैं तो मैं पहले कोशिश करता हूँ कि क्या मैं उस तरह की बातें कर सकता हूँ? उस तरह का मूवमेंट कर सकता हूँ? मुश्किल ये होती है कि बहुत बार लोग समझते हैं कि मैं मज़ाक उड़ा रहा हूँ लेकिन असल में मैं मज़ाक नहीं उड़ा रहा हूँ। मैं वो बनने की कोशिश कर रहा था क्योंकि मैं उनसे प्रभावित हूँ और दूसरे को जानने का ये जो तरीक़ा है कि जो किरदार आप निभाना चाहते हों, वो अगर आप होना चाहते हों तो समझ अच्छी आती है जिसका उपयोग या फ़ायदा मुझे नाटक में हुआ है, फ़िल्म में हुआ है और सबसे ज़्यादा मनोविज्ञान में हुआ है। मैं यह भी बताना चाहता हूँ ईमानदारी से कि व्यावसायिक कौशल, अलग चीज़ हैं। वह हमेशा आपके बेहतर प्रदर्शन या भीतर के असली कलाकार को गढ़ने में मदद करे यह ज़रूरी नहीं। आप अच्छी किताब लिखें कुकिंग पर, लेकिन खाना बढ़िया बनेगा ये नहीं बोल सकते। जो खाना बढ़िया बनाता है उसे शायद बताना नहीं आता होगा कि कैसे करना है? दोनों अलग चीज़ें है। एक चीज़ है अच्छी तरह देखकर, समझकर अपने में आकलन करके बताना है और दूसरी बात देखने के

लिए, सुनने के लिए, स्पर्श के लिए, स्वाद के लिए और सूँघने के लिए जो हम बचपन से, ध्यान से अपने भीतर पाते हैं क़ुदरती। बुद्धि पहले कभी डेवलप नहीं होती पहले हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ विकसित होती हैं। दीज़ आर कॉल्ड सेंस। और दुनिया के बारे में सारी जानकारी हम उन ज्ञानेन्द्रियों से लेते हैं। उसकी शुरूआत ही मुँह से, हम माँ के स्तन से जब दूध पीते हैं उससे होती है।

**निश्चित रूप से हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ विकसित होती हैं। संवेदनाएँ ही दरअसल हमारे भीतर एक अच्छे मनुष्य को तलाशने और उसे गढ़ने में मददगार होती हैं मैं ऐसा समझ पा रहा हूँ। मेरा जो प्रश्न था और उस प्रश्न के आस-पास आपने बहुत महत्वपूर्ण बातें कीं। आपको कब ऐसा लगा कि आपके भीतर एक अभिनेता है लेकिन अब मैं उसमें एक चीज़ और जोड़ता हूँ कि मोहन आगाशे को पहले-पहल एक अभिनेता के रूप में कब और कौन सा मंच मिला?**

– आप जानते होंगे कि महाराष्ट्र में गणेश फेस्टिवल बहुत होता है। मेरे बचपन में भी गणेश फेस्टिवल में दस दिन कार्यक्रम चलते रहते थे उसमें एक दिन हमेशा बच्चों का वेराइटी एंटर्टेन्मेंट होता था। उसमें मैं बचपन से हिस्सा लेता रहा हूँ। लेकिन उससे ज़्यादा महत्वपूर्ण बात है सई परांजपे जो जानी-मानी निर्देशिका हैं, लेखिका हैं वो नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा से पहले अपने पति अरुण जोगलेकर के साथ पूना में बहुत ही इंटरेस्टिंग चिल्ड्रेन थिएटर चलाती थी। जब मैं स्कूल में था पांचवी-छठी में। उसी समय ऑल इंडिया रेडियो पर वह 'बालोद्यान' नाम का कार्यक्रम हर रविवार को चलाती थीं और वो बच्चों का अत्यंत पसंदीदा कार्यक्रम था। उसी समय में मैंने पत्ते नगरी, पक्षियों का कवि सम्मेलन जिसमें मैंने काम किया है कौवे का और ऐसे ही कई नाटकों में काम किया। तो मेरा अभिनय से लगाव बचपन से जुड़ा हुआ है।

**तो आप यह मानते हैं कि एक नैसर्गिक प्रतिभा आपके भीतर पहले से थी, फिर एक अवसर आया और आपके भीतर का अभिनेता नए निखार के साथ बाहर निकला। आपकी यात्रा को देखें तो सई परांजपे आपका एक टर्निंग पॉईंट रहीं।**

– सई परांजपे के अलावा हमारी पाठशाला में गोड़बोले नाम के शिक्षक थे जो बेहतरीन नाटक करते थे स्कूल में। उन्होंने मुझे सातवीं कक्षा में बुला के कहा कि शाम को घर आ जाओ, नाटक करना है। तो दोनों जगह मैं नाटक करता था। उसके बाद मेडिकल कॉलेज में आया तो जब्बार पटेल, जो मेरे सीनियर थे, उनसे मुलाक़ात हो गयी। मैंने लगातार 15-20 साल उनके साथ जो काम किया, उसे भूल नहीं सकता। उनका निर्देशन अद्‌भुत होता था। उन्होंने ज़्यादा काम नहीं किया लेकिन जो काम किया है उसकी क्वालिटी ऐसी है कि शब्दों में बयाँ करना कठिन है। सतीश आलेकर जी जो बहुत ही महत्वपूर्ण लेखक हैं, वे भी हमारे ग्रुप में थे। आपने सही कहा कि यह सहज प्रवृत्ति है मेरी और आगे चलकर मैं सच बताऊँ आपको, मुझे बहुत सारा जीवन नाटक और फ़िल्म में देखने को मिला है और बहुत नाटक ज़िंदगी में देखने मिला है।

**जिस समय आपकी रुचि रंगकर्म और अभिनय के साथ जुड़ी तभी आपके सामने कॅरियर भी था। आप मेडिकल की पढ़ाई कर रहे थे। दो ख़्वाहिशें एक समय में टकराती हैं और यह तय कर पाना मुश्किल होता है कि आने वाला कल दरअसल हमें कहाँ ले जाएगा। मोहन आगाशे के साथ भी ऐसा हुआ होगा?**

– बिलकुल नहीं। क्योंकि मैं आपकी तरह सोचता ही नहीं हूँ। मैं सोचता हूँ कि हमारी दो आँखें हैं, हमारे दो कान हैं, हमारी नाक के दो हिस्से हैं। हमारी दायीं और बायीं बाँह है, पैर हैं। जीवन को सही रूप से देखने के लिए पॉज़िटिव-नेगेटिव होना बहुत ज़रूरी है और भारत जैसे देश में जहाँ इस बात की कोई प्रामाणिकता नहीं है कि आप अपना जीवन यापन उस काम के आधार पर कर लेंगे जो आपको पसंद है। आपको दो व्यवसायों की ज़रूरत है, जीवन-यापन के लिए और दूसरा उसको क़ाबिल बनाने के लिए। आपको दिलचस्पी एक चीज़ में हो सकती है लेकिन आपके गुण ऐसे होते हैं कि जिससे आप सर्वाइव कर सकते हैं। मुझे गाना बहुत अच्छा लगता है पर मुझमें सुर नहीं है तो क्या करूँ मैं? तो मैं गाने पर एक किताब लिखना चाहूँगा।

**किरदार एक अभिनेता को कई निभाने पड़ते हैं और मैं निदा फ़ाज़ली को याद करते हुए कहूँ तो वे कहते हैं- ''हर आदमी में छिपे होते हैं दस-बीस आदमी, जब भी देखना, कई बार देखना''। तो मोहन आगाशे कई बार जब मंच पर जाते हैं, कई बार सिनेमा के किरदारों में ढल कर सब तक पहुँचते हैं तब यह तय करना बहुत मुश्किल है कि इसमें ख़ुद मोहन आगाशे कहाँ हैं? क्या आपको कभी लगा कि कोई चरित्र आपकी ज़िंदगी से भी टकराया होगा और आपको उसको करने में आनंद मिला होगा?**

– यह सच है कि अभिनय के बारे में बहुत सारे मिथ गढ़े गए हैं। डॉ. लागू वैचारिक अभिनेता थे, वे कहते थे– आपको हमेशा एक व्यक्ति के रूप में जिसे आप गढ़ रहे हैं, जागरूक रहना चाहिए। इसलिए आपको एक बेहतर ऑब्ज़रवर भी बनना होगा। यह बहुत ज़रूरी है। एक बात और बताना चाहता हूँ आपको, पाचुकि साहब थे, उन्होंने एक किरदार निभाया रंगमंच पर। प्ले पूरा होने पर अंदर आ गए और एक घंटे तक मेक-अप रूम में अकेले यूँ ही बैठे रहे। तो किरदार से बाहर आने के लिए एक घंटा लगता है उनको। कमाल की चीज़ है। यह बहुत ही ज़रूरी है कि आपका एक व्यक्ति के रूप में अपने चरित्र के साथ क्या संबंध है। और यह ज़रूर मैं मनोचिकित्सक का अभ्यास करते हुए समझ गया हूँ। जैसे डॉक्टर का मरीज़ के साथ में क्या रिश्ता होना चाहिए, मरीज़ को क्या अनुमति है, डॉक्टर को क्या अनुमति नहीं है। मरीज़ डॉक्टर के प्रेम में पड़ सकता है, डॉक्टर मरीज़ के प्रेम में नहीं पड़ सकता नैतिकता की दृष्टि से। वैसे आप जो भी किरदार निभाते हैं उसके लिए किरदार की जो माँगें होती हैं भावनाओं की। वह आपकी व्यक्तिगत माँगें हैं नहीं। किसी लेखक ने किरदार का निर्माण किया है। और उनका अनुभव दर्शकों तक पहुँचना है इसलिए मेरा इस्तेमाल हो रहा है। तो डॉक्टर लागू ने बहुत ख़ूब कहा है कि हम तो कुली हैं। लेखक और दिग्दर्शक जो बता दे वह माल पहुँचा देना दर्शकों तक, बस यही काम है हमारा। और यह काम करने के लिए जो करना पड़ता है वह कैसे करें हम? वह भाव किरदार के लिए हम लाएँ कहाँ से? तो जीवन मल्टिपल इमोशन से भरा हुआ है, अनुभव से भरा हुआ है। तो एक किरदार निभाने के लिए आपको अभिनेता के सचमुच के भाव, अनुभाव उधार लेने पड़ते हैं। और वह एक ऐसा कर्ज़ है जो चरित्र कभी अभिनेता को वापस नहीं कर सकता। यह एक विरोधाभास है कि ऐसा करते-करते बहुत सारे अभिनेताओं में इमोशनल वेक्यूम होता है क्योंकि यह बहुत सारा इमोशनल लोन किरदार को दिया गया है जो वापस नहीं मिलता। तो इसमें इमोशनल इनबेलेंस हो सकता है।

**इस्तेमाल होने की बात आप कर रहे थे। श्रीराम लागू यह कहते हैं कि हम तो इस्तेमाल होते हैं और जिस भी किरदार के लिए हमारा निर्देशक हमको पुकारता है, हमको उसमें ढल जाना पड़ता है। लेकिन एक निजी संसार अपना भी अभिनेता का होता है। बहुत सारे अनुभवों की छापें उसके भीतर है। उन सारे तन्तुओं से मिलकर उसके व्यक्तित्व का और निजी मनुष्य का निर्माण होता है। मेरे पास एक कविता है दादा जो प्रेमशंकर शुक्ल ने लिखी है जो हमारे समय के महत्वपूर्ण कवि हैं। वे कहते हैं कि- ''नाटक करते-करते/उसकी ज़िंदगी में शामिल हो गया है नाटक/उलझनों-मुश्किलों में घिरा रहता है/और ख़ुश रहने का नाटक करता रहता है सारा दिन/अपने भीतर की चोट की, गहरे आघात की/ख़बर ही नहीं लगने देता है/करते हुए सुखमय जीवन का अभिनय/आँख के भीतर आँसू दबाकर/हँस-हँस कर बात करने में/नाटक से आगे निकल जाने का/आए दिन का उसका दृश्य होता है!/उसके ऐसे नाटक में/अपने पसीने से ही भीग-भीग जाया करता है नाटक भी!''**

– यह बहुत संवेदनशील कविता है और बहुत अच्छी कविता है। एक असफल अभिनेता का अंतरंग है इसमें। वो सच्चाई जो वह एक द्वन्द्व के रूप में जी रहा है। दरअसल नाटक एक सामूहिक कला है। लेखक जो कुछ लिखता है, उसे अभिनय और दृश्य में निर्देशन के लिए रूपांतरित करना। जिस तरह से दिखाना है वह एक्टर का काम है। एक चीज़ ध्यान में रखो कि ऐरा-गैरा डायरेक्टर और बहुत अच्छा एक्टर अच्छा नाटक कर सकता है। लेकिन एक गधा एक्टर और बहुत ही गतिशील दिग्दर्शक नाटक अच्छा नहीं कर पाएगा। लेकिन एक बहुत अच्छा दिग्दर्शक और औसत अभिनेता अच्छी फ़िल्म बना सकते हैं।

**वाह! आपका तजुर्बा बोलता है। इन्हीं तजुर्बों के साथ जब आपसे बात कर रहे हैं तो एक बड़ा फ़लसफ़ा बातचीत का हमारे सामने खुलता है। चलिए विषयांतर करते हैं, थोड़ी दार्शनिक मुद्रा हम लोगों की हो गयी। हम यह जानना चाहते हैं कि जिस वक्त मोहन आगाशे के भीतर अभिनय करने की इच्छा जागृत हो रही थी और जब वह अपनी नैसर्गिक प्रतिभा को पहचान रहा था तब उनके सामने बहुत सारी ऐसी नायक छवियाँ थीं जो हमारे रंगमंच और सिनेमा पर दाख़िल हो चुकी थीं और उनका अपना एक नाम था, अपनी एक कीर्ति थी। पैमाना अपने अभिनय का उन्होंने गढ़ा। मोहन आगाशे के सामने यह अभिनय कहाँ ठहरता था? आपका भी अपना कोई प्रिय अभिनेता रहा होगा जिसको देखकर आपने भी अपने अभिनय को या अपने रंगमंच और सिनेमा के आने वाले भविष्य को लेकर कुछ ख़्वाब बुने होंगे।**

– कितने मुश्किल सवाल पूछते हैं आप! देखिए ऐसा है कि आप कई लड़कियों को पसंद कर सकते हैं लेकिन शादी तो एक से ही करनी होती है। सौभाग्य की बात यह है कि आप एक साथ कई अभिनेता और अभिनेत्रियों को पसंद कर सकते हैं और उम्र के हर तबके में, जैसे आप बढ़ते हो, आपका अनुभव बढ़ता है।

तो इसका एक जवाब नहीं होता। जैसे डॉक्टर लागू के लिए पॉल मुनि थे, नसीरुद्दीन के लिए और हमारे लिए दिलीप कुमार थे क्योंकि वे सिनेमा में नई शैली लेकर आए थे। वहीं नसीर ने कितने नए लोगों के लिए एक अच्छा उदाहरण बना दिया। मेरे समकालीन और पूर्वकालीन जब्बार ख़ुद बहुत बढ़िया एक्टर थे। हालाँकि उन्होंने बंद कर दी एक्टिंग। तो मेरे साथ के नसीर, ओम पुरी, स्मिता, शबाना, अमरीश ये जो कुलभूषित लोग थे, ये बहुत अच्छे अभिनेता थे। मराठी में भी भक्ति बड़वे, दिलीप अच्छा काम करते हैं। नसीर का नया नाटक 'अभिनेता' देखिए।

**ज़रा तकनीकी बात आपसे करना चाहता हूँ। रंगमंच, सिनेमा और टी.वी. तीन अलग-अलग मंच हैं। इन तीनों मंचों पर जाते हुए मोहन आगाशे किस तरह अपने आप को साबित करते हैं?**

– एक तो मैं बात कहूँ बहुत प्रामाणिकता से कि मैं किसी को कुछ भी साबित नहीं करना चाहता। मुझे जो कुछ भी साबित करना है वह ख़ुद को करना है, दूसरों को नहीं करना। लेकिन एक बात सही है कि जब मैं रंगमंच पर जाता हूँ, यह बात बुज़ुर्गों ने भी बतायी है कि रंगमंच एक फ्रेम का सिनेमा है। सिर्फ़ एक बात जो दोनों में एक है वह है कि नाटक और सिनेमा दोनों ही टाईम और स्पेस के साथ खेल सकते हैं। लेकिन रंगमंच पर जब आप काम करते हैं तो आपके पास दर्शक होते हैं जो पहली पंक्ति में भी बैठे होते हैं और बालकनी में भी बैठे होते है। आख़री पंक्ति में भी। तो देह बोली वहाँ महत्वपूर्ण हैं। वहाँ कैमरा पास नहीं जा सकता। मन के भीतर की बात करना है। तो फ़िल्म में बहुत आसान हो जाता है। भावनाएँ दिखानी हैं तो कैमरा आपके इतने पास जा सकता है कि आप कुछ बहुत ही छोटा मूवमेंट कर सकते हैं जो आप जीवन में करते हैं जो कि लोगों को नज़र नहीं आता। लेकिन आपके बगल में जो खड़ा है उसे नज़र आता है। तो कैमरे में वह क़ाबिलियत है। लेकिन हमारा परफॉरमेंस स्क्रीन में टुकड़ों में होता है। रंगमंच के जैसे उसमें नियमितता नहीं होती टाईम और स्पेस की। तो वह मुश्किल है ज़्यादा। क्योंकि फ़िल्म में आख़री शॉट सबसे पहले लिया जा सकता है और सबसे पहला शॉट आख़री में। तो आपको उस तरह का अन्दाज़ बनाना पड़ता है। उसमें समय लगता है। टी.वी. बीच में कहीं होता है।

● ● ●

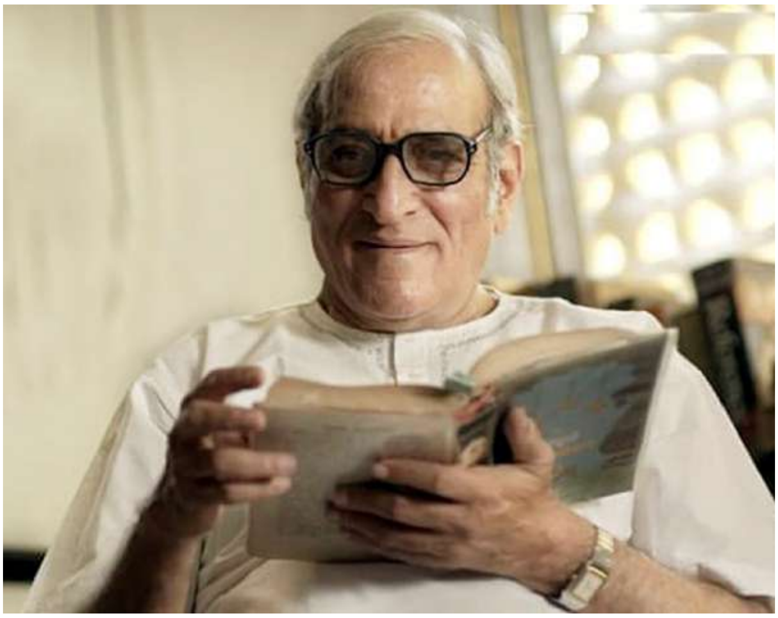

**मैंने कहा, भैया ये सुनना है तो विविध भारती में फ़रमाइश भेजो। बोले– नहीं, ये तो आप ही की कम्पोज़िशन है। मैंने कहा, वो फ़िल्म के लिए की गई है स्टेज पर बजाने के लिए नहीं। अगर मैं श्रोताओं के इस आग्रह में बह जाता तो यह हमेशा की रवायत या सिलसिला बन जाता। फिर मेरा संगीत का आध्यात्मिक मिशन ख़त्म हो जाता। लेकिन फ़ैसला मुझे करना है। हमने वही किया। लोगों ने फ़रमाइश करना बन्द कर दी।**

# आत्ममुग्धता प्रतिभा की दुश्मन

पं. शिवकुमार शर्मा

मैं समझता हूँ कि हमारे देश के कलाकारों पर एक बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी है कि वे पहले श्रोताओं को शिक्षित करें संगीत सुनने के बारे में। श्रोताओं को जैसा हम बनायेंगे वैसे वो बन जायेंगे। जैसे आपने कहा कि अगर आप श्रोताओं का सिर्फ़ मनोरंजन करना चाहते हैं तो फिर उसी तरीक़े से वो संगीत को सुनेंगे। आप संगीत की रूह को पहले ख़ुद महसूस करें।

देखने की बात यह है कि आपको किस तरीक़े की तालीम मिली है, किस तरीक़े की गाइडेन्स मिली है, फिर आपका अपना सोच–विचार क्या है? यह तो ज़ाहिर है कि जो आप महसूस कर रहे हैं अक्सर वही आप बजाते हैं। अगर आप अपने संगीत को मनोरंजन के तरीक़े से देखते हैं तो आप उसी तरीक़े से उसको पेश करेंगे। लेकिन एक शब्द मैं इस्तेमाल कर रहा 'म्यूज़िक बियॉण्ड इन्टरटेनमेन्ट'। मैं श्रोताओं से बातचीत करके उनको सुनाता हूँ। चाहे वो कॉलेज के स्टूडेंट्स हों, चाहे वो विदेश के लोग हों। मक़सद यह है कि हमको पहले ख़ुद संतुष्ट होना चाहिए। कई मर्तबा मैं देखता हूँ कि कई कलाकारों के मन में डर है, कि अगर हम प्रभावित करने वाली चीज़ें गायेंगे–बजायेंगे नहीं तो शायद हमारा गाना–बजाना जमेगा नहीं। इसके लिए कुछ साहस, धैर्य और अपनी निष्ठा होनी चाहिए।

अगर आप ही को संतोष नहीं है, तो फिर यह काम नहीं हो सकता। आजकल देख रहा हूँ कि कई जगह आलाप को लोग इतनी तरजीह नहीं देते। इण्स्ट्रूमेण्टल म्यूज़िक की बात कर रहा हूँ। बहुत छोटा आलाप बजाकर शुरू कर दिया क्योंकि शायद लोग बोर हो जायेंगे। अगर अपने मन में ही ये विचार धारण कर लिया कि आलाप लम्बा बजायेंगे तो लोग बोर हो जायेंगे, तो फिर आप उसको बजा ही नहीं सकेंगे। पहले तो ख़ुद को सहमत करना कि आप क्या करना चाहते हैं। मैं समझता हूँ कि सबसे पहले इसका मार्गदर्शन गुरु से मिलता है। गुरु आपको किस तरीक़े से तालीम दे रहे हैं, कि बेटा ये संगीत क्या चीज़ है? गुरु की धारणा क्या है, वही तो आगे चलेगा। हम सब कलाकारों का ये फ़र्ज़ बनता है कि हम जो भी करें, पहले उसको सोचें कि हम क्या मैसेज दे रहे हैं और उसका नतीजा क्या होगा! कोई शॉर्टकट पॉपुलरटी में ढूँढ़ने

की कोशिश अगर आप करेंगे तो वो शॉर्ट-लिव्ड भी हो सकता है। जिसमें थोड़ा धैर्य होगा, वो कर पायेगा। कई दफ़ा मुझे लोग पूछते हैं कि आप अगर पूना में बजा रहे हैं तो आप क्या बजाते हैं और अगर आप पेंसिलवेनिया में बजा रहे हैं तो क्या बजाते हैं? यह आप पर निर्भर करता है। श्रोता किस क़िस्म के बैठे हुए हैं, वैसा ही देखकर, अनुमान लगाकर कुछ कलाकार संगीत शुरू कर देते हैं।

मैं ज़रा इस विचार से अलग हूँ। मैंने अपनी इस पूरी यात्रा में चिंतन किया कि जो मैं कन्विंस्ड हूँ कि हमारा संगीत दरअसल ये है और मैं समझता हूँ कि यह आपको अन्तर्मुखी कर सकता है। मैंने पूरी दुनिया में यह कोशिश नहीं की कि आज यहाँ बजा रहा हूँ तो श्रोता क्या चाहते हैं वो कर दूँ और कल वहाँ बजा रहा हूँ तो वहाँ सीरियस सुनने वाले हैं इसलिए अपना संगीत बदल दूँ।

● ● ●

फ़िल्मों में हमारे गाने बहुत हिट हो गये। स्टेज पर चिट्ठियाँ आ जाती थीं- 'देखा एक ख़्वाब तो ये सिलसिले हुए' बजाइये। मैंने कहा, भैया ये सुनना है तो विविध भारती में फ़रमाइश भेजो। बोले- नहीं, ये तो आप ही की कम्पोज़िशन है। मैंने कहा, वो फ़िल्म के लिए की गई है स्टेज पर बजाने के लिए नहीं। अगर मैं श्रोताओं के इस आग्रह में बह जाता तो यह हमेशा की रवायत या सिलसिला बन जाता। फिर मेरा संगीत का आध्यात्मिक मिशन ख़त्म हो जाता। लेकिन फ़ैसला मुझे करना है। हमने वही किया। लोगों ने फ़रमाइश करना बन्द कर दी।

तो कलाकार के ऊपर बहुत बड़ी रिस्पॉन्सिबिलिटी है और ये हमको समझना है। लेकिन इसमें कोई ऐसा रूल नहीं बनाया जा सकता, ऐसा कोई क़ायदा-क़ानून नहीं बनाया जा सकता है कि ऐसा ही आप करिये। ऐसा तो कोई है नहीं। सबकी अपनी-अपनी इच्छा है, जिसका जो सोच है वो वही करेंगे और उनको आज़ादी है करने की।

● ● ●

मुझे अभी मालूम है कि मेरे बजाने में क्या-क्या कमज़ोरियाँ आ रही हैं। शायद श्रोताओं को नहीं पता चलता, मुझे आभास है इसका। ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम संगीत में होता है। मैं इसको महसूस कर रहा हूँ। जैसे कोई सामान्य आदमी गृहस्थ आश्रम में होता है, वही एक संगीतकार की भी स्थिति होती है। एक बड़ी तैयारी की तरफ़ पूरे यौवन भर गाना-बजाना है और उसकी एक भूख भी होती है कि ताली बजे, लोग प्रशंसा करें और फिर वो जो वानप्रस्थ आश्रम आता है, उसमें तालियों की भूख निकल जाती है और फिर अपने आपको ख़ुद शख़्स देखता है। मुझे भी इन दिनों महसूस हो रहा है कि मेरे बजाने में क्या बदलाव आया है। ये भगवान की कृपा है। आपसे बिल्कुल ऑनेस्ट बात कर रहा हूँ। कुछ तानें हैं जो आज से दस-पन्द्रह साल पहले मेरे हाथ से निकलती थीं, अब नहीं निकलती हैं। अभी मैं बेटे राहुल के हाथ से वो तानें सुनता हूँ। ये ईश्वर और गुरु की कृपा है। कलाकार को श्रोता बहुत प्यार करते हैं, लेकिन वो उस प्यार की वजह से कुण्ठित भी होते हैं जब सुनकर जाते हैं- यार, वो बात अभी नहीं हो रही है, ऐसी स्थिति में कलाकार को स्टेज पर नहीं बजाना चाहिए। जब दया का पात्र बनने लगें, उसके पहले मंच छोड़ देना चाहिए। कई दफ़े कई तरह की मजबूरी होती है। किसी के फाइनेंशियल कॉन्ट्रेक्ट होते हैं, कलाकारों को करना पड़ता है। लेकिन मैं यह समझता हूँ कि जिनके पास वो प्रॉब्लम्स नहीं हैं, उन्हें सोचना चाहिए। कुछेक कलाकार हुए हैं जिनमें श्रीमती केसरबाई जी थीं। उन्होंने फ़ैसला कर लिया था कि अब मैं पब्लिक में नहीं गाऊँगी, मुझे ऑडियन्स का तरस नहीं चाहिए कि- अरे! ये ऐसा करती थीं, अब नहीं हो रहा। ऐसे बहुत कम कलाकार होते हैं। और उनके अपने-अपने रीज़न्स होते होंगे, लेकिन मैं इसमें पूरी तरह से विश्वास करता हूँ कि संयम चुक जाए तो कलाकार को सार्वजनिक मंचों से विदा ले लेना चाहिए।

गाना-बजाना सिर्फ़ रियाज़ की बात नहीं है, ये कोई कुश्ती का काम नहीं है। ये बहुत ही सूक्ष्म काम है। मैं पूरी तरह से अनुभव की बात कर रहा हूँ। कई मर्तबा मेरे साथ ऐसा हुआ है कि मेरी सेहत ठीक नहीं है। लग रहा है कि स्टेज पर जाकर मेरा हाथ भी नहीं चलेगा, लेकिन कुछ दैवीय शक्ति है जो मुझे सहायता करती है। स्टेज पर आकर जब मैं बैठता हूँ, मुझे ख़ुद विश्वास नहीं होता कि बीस मिनट पहले जो मेरी कण्डीशन थी वो कहाँ चली गयी, मैं कैसे बजा पा रहा हूँ और मज़े की बात यह है कि जब कार्यक्रम समाप्त होता है, मैं फिर उसी स्थिति में चला जाता हूँ, साज़ उठाने की भी शक्ति नहीं है। ये क्या चीज़ है? ये साधना है।

एक तरीक़ा होता है स्टेज पर जाने का कि आज दिखा देंगे। वह भी बहुत अच्छा है। सेल्फ़ कॉन्फ़िडेन्स के बग़ैर तो आदमी परफ़ॉर्म ही नहीं कर सकता, लेकिन सेल्फ़ कॉन्फ़िडेन्स की लक्ष्मण रेखा हमको मालूम होना चाहिए। कब सेल्फ़ कॉन्फ़िडेन्स ऐरोगन्स में तब्दील हो जाता है, वो कलाकार को मालूम होना चाहिए।

जो हमारी वाद्यों की क्लासिफिकेशन हैं- ताल वाद्य, सुषिर वाद्य, घनवाद्य... जितने भी हैं, संतूर किसी भी कैटेगरी में नहीं आता। जो तन्तु वाद्य है, तत-वितत वाद्य जो हैं, या तो स्ट्रोक्स से बजते हैं, उँगली का इस्तेमाल होता है या गज से बजते हैं। इसमें हाथ टच ही नहीं कर रहा है, कलम है। तो यह किसी कैटेगरी में नहीं आता। बहुत प्राचीन वाद्य है।

ये सिक्सटीज़ की बात है। पं. रविशंकर जी का किण्डर स्कूल था बॉम्बे में। वहाँ पर डॉ. बृहस्पति जी को उद्‍बोधन के लिए बुलाया और विषय था ''द ओरिज़न ऑफ स्ट्रिंग इन्स्टुमेंट्स इन इंडिया''। उन्होंने बताया कि पिनाकी वीणा पहला वाद्य बना और उसका बनाने का आइडिया आया धनुष और तीर से। जब तीर छोड़ा जाता था तो एक टँकार होती थी। तो किसी ने एक वाद्य बनाया जिसका नाम पिनाकी वीणा रखा। 'पिनाक' संस्कृत भाषा में धनुष को बोलते हैं। वो ही वाद्य विदेश में 'हॉर्प' के नाम से जाना गया और आजकल उसका मिनिएचर फ़ार्म है स्वरमण्डल। फिर उन्होंने बताया कि उसके बाद एक और वाद्य बना 'शततंत्री वीणा'। 'वीणा' शब्द हर तन्तु वाद्य के साथ आता था और उसमें उन्होंने इसका ज़िक्र किया और कहा कि यह ख़ुशी की बात है कि आज उस वाद्य का फिर से प्रचार हुआ है और उसके वादक यहाँ बैठे हुए हैं। मेरा ज़िक्र उन्होंने किया।

● ● ●

मेरा मानना है कि संगीत कोई भी सीख सकता है। अगर गुरु को तालीम देना आता हो और गुरु तालीम देना चाहें। सबसे पहले तो गुरु, उस्ताद जो है, उसमें यह ख़ौफ़ नहीं होना चाहिए कि अगर मैं शिष्य को यह गुर दे दूँगा तो मेरे पास क्या रहेगा? लेकिन वह बहुत सारे शागिर्दों को तैयार कर सकता है और जो उनके पास सिखाने की एक टेक्निक है वो आपको तालीमयाफ़्ता बना सकते हैं, लेकिन एक होता है एवरेज म्यूज़िशियन, एक होता है बिलो एवरेज म्यूज़िशियन, एक होता है एबव एवरेज म्यूज़िशियन, एक होता है एक्स्ट्रा ऑर्डेनरी म्यूज़िशियन और एक होता है पाथ ब्रेकिंग एक्स्ट्रा ऑर्डेनरी जीनियस। डिफरेन्ट-डिफरेन्ट कैटेगरीज़ हैं म्यूज़िशियन्स की। जो लास्ट वर्ड मैंने कहा- एक्स्ट्रा ऑर्डेनरी पाथ ब्रेकिंग विज़नरी गिफ्टेड म्यूज़िशियन, वो सैकड़ों नहीं हो सकते। हो सकता है मेरी ये सोच ग़लत भी हो, लेकिन हम देखते यही आये हैं। उदाहरण के लिए गुन्देचा बन्धु हैं। ध्रुपद को इन्होंने रिवाइव किया। मैं यह पूछना चाहता हूँ देश में कितने और गुन्देचा बन्धु हैं? पैंतीस सालों में दो-तीन गुन्देचा बन्धु क्यों नहीं आये? मेरा प्रश्न ये है। सब चीज़ों का कॉम्बीनेशन जहाँ आ जाता है वो गुन्देचा बन्धु बनते हैं। बाक़ी गुन्देचा बन्धु में ये क्षमता है, वो सिखा सकते हैं। अपनी फ़िल्म में मैंने एक चीज़ कही है कि शिष्य में क्या क़ुव्वत है! कैफ़ियत यह है कि शागिर्द का हौसला कितना है, उसमें कितनी क़ुव्वत है, कितना ले सकता है वो!

कितने कुमार गन्धर्व आये इसी मध्यप्रदेश में? कितने उस्ताद अमीर ख़ाँ साहब आये? अमीर ख़ाँ साहब ने सबसे ज़्यादा प्रभावित किया गायकों को, इंस्ट्रूमेण्टलिस्ट्स को, जिनको उन्होंने सिखाया नहीं। लेकिन उनके बाद कितने उस्ताद अमीर ख़ाँ साहब बने होंगे? बहुत अच्छा लोग गाना-बजाना कर रहे हैं और उनकी चीज़ों को लेकर बहुत अच्छा सजाकर गा-बजा रहे हैं। लेकिन क्या आप यह कह सकते हैं कि दूसरे अमीर ख़ाँ साहब हैं? ये क्यों है? एक बहुत बड़ा प्रश्न है जिसमें रिसर्च की ज़रूरत है। जिस दिन मेरे दिमाग़ में ये आ जायेगा- अरे भई! ये तो मैं कर रहा हूँ मेरा रिवर्स गियर हो जायेगा।

● ● ●

तैयारी के बग़ैर गाना-बजाना नहीं हो सकता। जिस उस्ताद-गुरु के पास हम सीख रहे हैं, हम उनकी ही आवाज़ बनाकर गाने की कोशिश करते हैं। देखने की बात ये है कि भगवान ने हर शख़्स को डिफरेन्ट वोकल कॉर्ड दिया हुआ है। बाप, बेटे की आवाज़ में भी फ़र्क़ है, थोड़ी सिमिलरटी हो सकती है। ग़लती यहाँ पर होती है कि वो कोशिश करते हैं उस्ताद की आवाज़ की नक़ल करने की। जहाँ पर आप नक़ल करके रियाज़ करना शुरू करेंगे, पचास प्रतिशत आपका माइनस हो गया। कोशिश यह करनी चाहिए कि अपनी नैचुरल वॉइस में गाएँ और तालीम वो जो मिल रही है उसको गाएँ।

जो इंस्ट्रूमेंट बजा रहे हो, पहले उस इंस्ट्रूमेंट की टेक्निक क्या है, उसको सही समझो। रियाज़, तैयारी ज़रूरी है। इमोशन तो बहुत बाद की चीज़ है, टैक्निक क्या है, दो कलम का इस्तेमाल कैसे होता है। मेरे तीन-चार क़िस्म के शागिर्द हैं। कुछ शागिर्द हैं जो डायरेक्ट मेरे पास सीखे हैं, उनमें भी दो भाग हैं। वो हैं जो मेरा म्यूज़िक टेक्निक समझे हैं और उसको बजा सकते हैं। दूसरे वो हैं जिन्होंने बहुत रियाज़ किया है, टेक्निक नहीं समझे हैं और मेरा म्यूज़िक नहीं बजा रहे हैं। ये मेरे ही शिष्यों में दो कैटेगरीज़ हैं।

मैं कहीं एयरपोर्ट पर जा रहा हूँ, कोई आता है मेरे पाँव छूता है- 'गुरुजी, प्रणाम!' मैंने कहा- भैया, तुमको तो कभी देखा नहीं, तुम गुरुजी बोल रहे हो। बोले- 'मैं अपने पिताजी के पास या अपने गुरुजी के पास सीखता हूँ, लेकिन मैं आपको सुनता हूँ, आपको गुरु मानता हूँ। ये दूसरी कैटेगरी है। मेरे पास सीखे नहीं हैं, लेकिन मानते हैं कि इन्होंने संतूर को लाया, हम इनको फॉलो कर रहे हैं।

एक तीसरी कैटेगरी है, जो मेरे पास सीखना चाहते थे, लेकिन किसी कारणवश सीख नहीं पाये। कुछ ऐसे हैं जो मेरे पास सीखे हुए हैं और बाद में कहीं और चले गए, बहुत अच्छी बात है, लेकिन मेरा नाम लेना छोड़ दिया। तो ये सब लोग जो बजा रहे हैं, मेरी सबको शुभकामनाएँ हैं। संतूर तो बजा रहे हैं।

जब तक टेक्निक सही नहीं होगी आगे मत बढ़ो। कौन बतायेगा कि टेक्निक सही है या ग़लत है? जिसको ख़ुद टेक्निक मालूम है। टेक्निक रेकॉर्डिंग सुनकर नहीं आ सकती। लेफ़्ट से कितना स्ट्रोक्स बजेगा- 'ग म प नि स', इसमें 'ग म' कहाँ पर आयेगा, 'प' कहाँ पर आयेगा, कहाँ लेफ़्ट आयेगा, कहाँ राइट आयेगा, जब तक ये मालूम नहीं होगा। हाथ अटकता रहेगा, तान में रवानगी नहीं आयेगी, हर क़िस्म की तान नहीं बजेगी। तो टेक्निक को पहले साधो। इमोशन तो बहुत दूर की बात है। तैयारी बहुत दूर की बात है। अगर ग़लत टेक्निक से तैयारी कर लोगे, वो संगीत नहीं रहेगा, वो सुर नहीं रहेगा, वो असुर हो जायेगा। टेक्निक को सीखो। उसमें दो-चार साल लगाओ, अलंकार का रियाज़ करो।

● ● ●

पंडित भीमसेन जी और हम लोग कार्यक्रमों की वजह से बहुत इकट्ठे ट्रेवल किये हैं फ़्लाइट में। पहले मेरा प्रोग्राम हो रहा है, बाद में उनका हो रहा है। वह अक्सर मुझसे कहते थे कि मुझे तो आठ-दस राग आते हैं। मैंने कहा, 'नहीं पण्डित जी, आपको राग सारे आते हैं। लेकिन आपने आठ-दस रागों को वश में कर लिया है।' कितने राग आपको आते हैं वो इतना लाज़मी नहीं है, कितने रागों में आप असर पैदा कर सकते हो! मैंने भी बहुत सारे ताल बजाये- पन्द्रह मात्रा, ग्यारह मात्रा, नौ मात्रा, तेरह मात्रा। मैंने जानबूझकर आधे के नहीं बजाये। मुझे लगता है कि जैसे एक आदमी चल रहा है, ऐसे चल रहा है- एक-दो-तीन-चार, ये चाल होती है न? एक चल रहा है- एक-दो, एक-दो-तीन, एक-दो तो लंगड़ाने लगता है। दूसरा जब हम सात मात्रा बजा रहे हैं तो साढ़े तीन तो होता ही है उसमें, नौ बजा रहे हैं तो साढ़े चार तो होता ही है उसमें। कई लोग इसमें पड़ जाते हैं कि साढ़े चार मात्रा, पौने आठ मात्रा बजाऊँगा। मैंने कहा, भैया ज़रूर बजाओ, लेकिन पहले तीन ताल तो बजा लो। मुश्किल ताल बजाने से लयदारी नहीं साबित होती। एक गिनतकारी होती है। लयदार आदमी अलग होता है, गिनतकार अलग होता है। इसका फ़र्क़ मालूम होना चाहिए।

● ● ●

जहाँ तक मेरे मन का ताल्लुक़ है, मैं कहीं पर भी होता हूँ तो मेरे अन्दर संगीत चल रहा होता है। मैं फ़्लाइट में भी हूँ तो दो काम मेरे चल रहे होते हैं। समझ लीजिए मैं बॉम्बे से लन्दन जा रहा हूँ। मैं फ़्लाइट में फ़िल्म नहीं देखता। एक तो मुझे वो करना नहीं आता कि कहाँ कैसे जाना है, क्या करना है। मुख्य कारण वो है। कभी पढ़ भी लेता हूँ। या तो मैं मेडिटेड करता हूँ या मैं अपने मन में गाता हूँ, कुछ सोचता हूँ।

एक मेंटल रियाज़ होता है, एक फ़िज़ीकल रियाज़ होता है। जब आप मेंटल रियाज़ करते हैं, कुछ आइडियाज़ आते हैं तो कुछ चीज़ों को आप सोचते हैं। फिर आप साज़ लेकर बैठते हैं तो प्रेक्टिकली उसकी कोशिश करते हैं। संगीत मेरे अन्दर चल रहा होता है। दूसरी मैं ये चीज़ करता हूँ, जैसे मैं अभी आपसे बात कर रहा हूँ। मैं इसका रियाज़ करता हूँ कि ये जो शरीर बैठा हुआ है, ये मैं नहीं हूँ और इस शरीर के हाथ में माइक है और मेरे सामने ये शख़्स बैठे हुए हैं। ये शरीर आपको जबाव दे रहा है। मैं एक दृष्टा बनकर उसको देख रहा हूँ। इसका रियाज़ करता हूँ। कहीं मैं फ्लाइट में जा रहा हूँ या एयरपोर्ट पर, एक तो मेरा वाद्य ऐसा है कि मेरे साथ नहीं होता और न तो ऐसा विचार! ये बड़ा अनूठा विचार अब तक मेरे ज़ेहन में न आया और शायद ही समझ आए! और उसका मतलब क्या है समझ में नहीं आया।

ख़ुशक़िस्मती से संतूर दुर्लभ वाद्य की उस कैटेगरी में अब नहीं रहा है। जैसा मैंने ज़िक्र किया कि संतूर के नाम से 'संतूर सोप' बन गया। उसके लिए मैंने न कोई एड किया है, न मैंने उनको कहा कि भैया बनाओ, न मैं वो सोप इस्तेमाल करता हूँ। उसके नाम से रेस्टोरेन्ट खुले हुए हैं। पेरिस में मेरे कोई दोस्त गये थे, कई साल पहले, बोले– साहब संतूर रेस्टोरेन्ट में वहाँ पेरिस में खाना खाया हमने। ये जो हो रहा है तो ज़ाहिर है संतूर दुर्लभ वाद्य तो नहीं रहा। मेरे पिताजी की आत्मा को इसमें बड़ी शान्ति मिलती होगी कि ऐसा हुआ। उन्होंने कहा था कि भई तुमको ये साज़ बनाना है, एक दिन तुम्हारा नाम और इसका नाम एक हो जायेगा। उनकी आत्मा को बहुत ख़ुशी हो रही होगी। बाक़ी मैं ये कोशिश करता हूँ कि हमारे जितने और भी वाद्य हैं, जो किसी ज़माने में हमारे दिग्गज वाद्य थे, देखिए वाद्य इन इटसेल्फ़ इज़ नथिंग। उसको हैंडिल कौन कर रहा है और उस शख़्स की हैंडिल करने की मंशा क्या है और उसके पीछे कौन–सी शक्ति जुड़ी हुई है, उससे वाद्य बनता है। अगर मैं बिस्मिल्लाह ख़ाँ साहब की शहनाई अपने हाथ में ले लूँ, और सोचूँ कि मैं एक म्यूज़िशियन हूँ लेकिन वो सुर मैं नहीं निकाल पाऊँगा। वो उन्हीं का काम था। तो कलाकार जो होता है, उसकी वजह से वाद्य बनता है। वाद्य अपने आप में, ख़ुद तो बजता नहीं और जो बजाने वाला है, उसके पीछे भी कोई शक्ति होती है तब वह बजा पाता है।

●●●

मैं संगीत में इतना लगा रहा कि घर–बार का मुझे कुछ पता नहीं था। मेरे दो बेटे हैं। राहुल मेरा छोटा बेटा है। रोहित मेरा बड़ा बेटा है, वह म्यूज़िक में नहीं है। फॉक्स स्टार स्टूडियो फ़िल्में बनाते हैं, रोहित शर्मा इण्टरनेशनल डिस्ट्रीब्यूशन का हेड है। मेरी पत्नी का बच्चों की परवरिश में बहुत बड़ा योगदान है। बच्चों की देख–रेख, पढ़ाई का सारा ज़िम्मा उन्होंने ही बख़ूबी निभाया। उनका बहुत बड़ा सेक्रीफ़ाइज़ है। अभी मैंने बाहर जाना कम कर दिया है। हर साल मैं अमेरिका जाता था। एक ट्रिप में बीस–पच्चीस प्रोग्राम। ये 1968 से चल रहा है। मैं मई के महीने में वापस आ जाता था, मार्च–अप्रैल दो महीने बाहर रहता था। फिर पूरी फ़ैमिली, बच्चों को लेकर हम लोग कश्मीर जाते थे और एक–डेढ़ महीना वहाँ गुज़ारते थे। बहुत अच्छी यादें हैं उनके साथ समय गुज़ारने की। अब तो बच्चे बड़े हो गये, उनके बच्चे हो गये, मैं ग्राण्ड–फादर बन गया। मैं कोई सोशलाइज़ नहीं करता। लोग मुझसे ख़फ़ा भी होते होंगे पर मुझे नाराज़गी नहीं दिखाते।

●●●

जितने युवा तबला वादक हैं, सब ज़ाकिर की तरह बाल रखने और उन्हीं की तरह हाव–भाव बनाने की की कोशिश करते हैं। नेचुरल है, लेकिन ज़ाकिर रियाज़ कर रहे हैं अपना। उनके पिता अल्लारखा ख़ाँ साहब से उसका काम अलग है। ख़ाँ साहब का एक्सप्रेशन जो था वो ज़ाकिर में भी है, अपने म्यूज़िक को एन्जॉय करते हुए बजाना, लेकिन वो जुदा थे। ज़ाकिर अपने में नैचुरल है। जिरॉक्स नहीं है उनका। ज़ाकिर ने तबले को विस्तार दिया। कई चीज़ें और ऍड कर दीं। उस्ताद अल्लारखा ख़ाँ साहब के पास कितने लोग सीखे, लेकिन ज़ाकिर हुसैन नहीं बने। ज़ाकिर हुसैन के भाई हैं तौफ़ीक़। तौफ़ीक़ ने एक दूसरा इंस्ट्रूमेण्ट ले लिया जेम्बे, उस पर पूरा तबला बजा दिया। लाजवाब! लेकिन उसने देख लिया कि ज़ाकिर की अपनी जगह है, मैं तबला छोड़ देता हूँ। यह भी एक सोच है।

●●●

मैंने कभी यह सोचा ही नहीं कि राहुल को मैं म्यूज़िक सिखाऊँगा। ख़ासकर के मेरी वाइफ़ ने। उसने बहुत स्ट्रगल देखी थी मेरी लाइफ़ में। पूरी कोशिश की गयी कि बेटे म्यूज़िक में नहीं आयें। मैंने भी कहा, अगर उसके भीतर संगीत होगा तो वह रुकेगा नहीं। वाय शुड वी फोर्स? इत्तिफ़ाक़ देखिए। राहुल जब शिशु था तब मैं जापान गया। केसियो एक छोटा सा खिलौना होता है न, वो मैं लेकर आया। मैंने उसको दे दिया। मैंने सोचा कि ये दो–चार दिन बजाकर तोड़ देगा। एक दिन मैं बाहर खड़ा था, मैंने देखा कि उसने उस पर एक ट्यून कम्पोज़ कर दी। मैंने अपनी वाइफ़ को यह बताया। उन्होंने कहा, नहीं–नहीं, बिलकुल म्यूज़िक नहीं सिखायेंगे। जब वो कॉलेज जाने लगा तब सीरियसली उसने म्यूज़िक सीखना शुरू किया, बेसिक्स 'सा रे ग म' गले से निकलने लगा। तबले का ठेका, फिर संतूर। ... ईश्वर, नियति को जो मंजूर था, वहीं हुआ। राहुल का काम देखकर मुझे गहरा संतोष है।

## तबला, गाइड, पंचम और मैं

तबला भी मेरे संगीत जीवन का एक अहम हिस्सा है। अब तो छूट गया। लोग मेरे पीछे पड़ जाते थे। एक ज़माने में पंचम (आर.डी. बर्मन) मेरे पीछे पड़ गये। उनके साथ भी बहुत काम किया। 'गाइड' फ़िल्म जब आयी थी, मैं तबला छोड़ चुका था। 'मोसे छल किये जाए' जो गाना दिखाया गया, डायरेक्टर मेरे पीछे पड़ गये- नहीं साहब आपको तबला बजाना होगा। इधर पंचम तबला सीखे हुए थे और अली अकबर ख़ाँ साहब के पास सरोद भी सीखे हुए थे। पंचम हमारे बड़े अच्छे दोस्त थे। जब्बार पटेल मेरे पीछे पड़ गये- नहीं-नहीं, ये बड़ा इन्ट्रस्टिंग रहेगा, राहुल के साथ। मैंने कहा, भैया ऐसी लय रखो जिसमें मैं ठेका दे सकूँ। तो बजा दिया थोड़ा सा। मेरी एक उँगली का नाख़ून बढ़ा हुआ है। उसका कारण भी है कि संतूर ट्यून करने के लिए मैंने यह नाख़ून बढ़ाया हुआ है। तबले में इस उँगली को इस्तेमाल ही नहीं कर सकता। इसे बचाते हुए बजाया कई बार ढग्गा। किसी ज़माने में मैंने तबला बजाया और शायद जम्मू-कश्मीर में मैं ही अकेला तबला बजाता था इसलिए मुझे रख लेते थे। ऐसा कोई बड़ा तबला वादक मैं नहीं था। यह भी हो जाता है कि जब कोई आदमी किसी चीज़ को छोड़ देता है तो उसकी बहुत तारीफ़ होती है- अरे! आप बहुत कमाल बजाते थे। अगर मैं बजाता रहता तो शायद कहते- अरे ठीक-ठीक है।

## नई टेक्नोलॉजी को कोसे बग़ैर अपना काम करते चलें

हर चीज़ के दो पहलू होते हैं। तकनीक के साथ भी यही है। बड़े-बड़े लोगों का संगीत, पुराने उस्तादों का संगीत, यू-ट्यूब पर आपको सुनने को मिलता है और यह एक सुविधा है। मैं यह भी सुन रहा हूँ कि स्काइप से लोग सिखा भी रहे हैं। तो एक सुविधा है। मैं समझता हूँ किसी भी टेक्निक की जो पॉज़िटिव चीज़ें हैं वो स्वीकार की जानी चाहिए। उसका इस्तेमाल करना चाहिए। मैं कभी भी इनोवेशन और न्यू टेक्नोलॉजी के अगेंस्ट नहीं रहा, लेकिन उसमें हमको क्या लेना है, क्या छोड़ना है? अभी इसमें कोई आदमी ये समझ ले कि यू-ट्यूब पर सुन करके मैं गाना सीख लूँगा तो ग़लत है। उसके लिए गुरु के आश्रम में जाना पड़ेगा। ये फ़र्क़ मालूम होना चाहिए। एक नुक़सान यह हुआ है कि सीडीज़ बनना बन्द हो गईं। अभी सब ऑनलाइन हो गया है। ये बड़ा नुक़सान संगीत का हुआ है। पहले किसी ज़माने में कैसेट बनते थे, हम लोग कैसेट रिकॉर्ड करते थे। फिर वो एलपीज़ आये, फिर लाँग प्लेइंग आये, उसके बाद सीडी आया। अब सीडी भी ग़ायब हो गया। एक बहुत बड़ा आइकॉनिक स्टोर था बाम्बे में रिदम हाउस वो बन्द हो गया। सीडी बनना बन्द हो गया। क्यों हुआ है? टेक्नालॉजी की वजह से ऑनलाइन हो गया है म्यूज़िक। संगीत का नुकसान कहीं हो तो रहा है। यू-ट्यूब पर हर चीज़ है। कोई भी अपना संगीत डाल दे। इसको डेढ़ लाख लोगों ने देखा है। चाहे शायद डेढ़ सौ आदमी ने देखा होगा, अब कौन चेक करने जायेगा? ये सब चीज़ें भी हो रही हैं। ये तो होता रहेगा, इसको हम रोक नहीं सकते, न इसके लिए हमको रोना-धोना करना चाहिए, अपना काम करते चले जाना चाहिए, अपना मैसेज देते चले जाना चाहिए। जिसको लेना है ले लो जिसको नहीं लेना है तो शुक्रिया।

● ● ●

**हर इंसान को ज़िंदगी में ऐसे गुरु ज़रूर मिलते हैं जिनको ज़रूरी नहीं कि वे यह बताएँ कि किताबों में क्या लिखा है, लेकिन वे इस बात की प्रेरणा ज़रूर देते हैं कि ज़िंदगी में क्या लिखा है। मरहूम चुगताई के दिये संस्कारों के प्रति मैं ताउम्र अहसानमंद रहूँगा।**

जावेद अख़्तर

# बेहतर रचना सदा चुनौती

**विनय उपाध्याय:** कई सम्मान-पुरस्कार आपकी क़ाबिलियत पर मोहर लगाते रहे हैं। अब इस फ़ेहरिस्त में किशोर कुमार सम्मान क्या कुछ नया अनुभव आपको दे रहा है?

**जावेद अख़्तर:** यक़ीनन जिस गायक को मैंने अपनी ज़िंदगी में सबसे अहम माना उसी के नाम पर रखा गया 'किशोर अवॉर्ड' मिलना मेरी ख़ुशक़िस्मती है। फ़िल्म 'सिलसिला' के लिए लिखे गये मेरे पहले गीत 'देखा एक ख़्वाब तो ये सिलसिले हुए' किशोर कुमार ने ही गाया था। यह अवॉर्ड मिलने पर वैसी ही ख़ुशी हुई जैसी 'सिलसिला' के इस गीत की रिकॉर्डिंग के समय नज़दीकी के दौरान मिली थी। फ़िल्म में यह गीत जितना रोमांटिक था, वैसी ही उसको आवाज़ मिली थी। आप कल्पना कीजिए कि मुझे फ़िल्मी गीतकार की पहचान देने वाली पहली आवाज़ का फ़नकार अगर एक दिन मेरे लिए सम्मान का गहना बन जाये तो इससे बड़ी ख़ुश क़िस्मती और क्या हो सकती है?

**सम्मान के संदर्भ से अलग किशोर कुमार के बारे में आपकी क्या राय है?**

- मैं आपको बता दूँ कि मैंने जब होश सम्हाला तब फ़िल्मी दुनिया में अनेक गायक सक्रिय थे लेकिन मुझे हमेशा किशोर कुमार की आवाज़ ने प्रभावित किया। तब 'बिनाका गीत माला' ऑल इंडिया रेडियो पर मैं बड़े चाव से सुनता था। उस दौरान फिल्म 'मुनीमजी' का एक गीत जिसे किशोर कुमार ने गाया था- ''जीवन के सफ़र में राही'' मैंने पूरा याद कर लिया था। देवानंद पर फिल्माया गीत- ''माना जनाब ने पुकारा नहीं'' भी मुझे पसंद था, फिर एक दिन नसीब जागा कि रेडियो से तैर कर मुझ तक पहुँचने वाली वो ख़ूबसूरत आवाज़ 'सिलसिला' में आकर मेरा नसीब बन गयी और मेरी लिरिक राइटिंग के केरियर में संग-ए-मील बन गयी।

**किशोर कुमार की आवाज़ को आप किस तरह परिभाषित करेंगे?**

- व्यक्तिगत तौर पर किशोर कुमार की आवाज़ को मैं मस्त, मदहोश और खिलंदड़ किस्म की मानता हूँ। मुझे उनके ग़मग़ीन ज़्यादा पसंद हैं। मेरा मानना है कि उनकी आवाज़ 20वीं सदी

की आवाज़ थी। देखिये, जिस तरह इमारतों में, रंगों में, कपड़ों में समय बोलता है उसी तरह आवाज़ों में भी समय को सुना जा सकता है। किशोर कुमार की आवाज़ में ग़ज़ब की पॉलिश थी। गीत के शब्द गाने से पहले ही वे अपनी आइडिंटिटी का अहसास करा देते हैं। मसलन 'कोरा काग़ज़ था ये मन मेरा' के पहले 'हूं...हूं...हे...हे...हा...हा..' की कल्पना कीजिये। इसी तरह 'मेहबूबा' का गीत 'मेरे नैना सावन भादो' के पहले की हमिंग 'हूं...हूं...हा...हा...हा...' में वे सिर्फ़ एक दमदार गुनगुनाहट से ही टाइम और माहौल का अहसास करा देते थे। ये क़ूबत हर गायक में नहीं होती। आज की आवाज़ों में किशोर को खोजना नामुमकिन है। ऐसा लगता है कि जैसे नग़मे किशोर की आवाज़ के लिए ही लिखे गये थे। लता, रफ़ी, आशा, मुकेश कितनी पाक और सच्ची आवाज़ें हैं।

**खंडवा आकर आप किशोर की समाधि और उनके पुश्तैनी घर भी गये, कैसा लगा आपको?**

– खंडवा में किशोर अवॉर्ड लेने की मुझे सचमुच ख़ुशी है। मैंने सूचना मिलते ही यहाँ आने की इच्छा ज़ाहिर कर दी थी। मन में बार-बार एक बात कौंध रही थी कि बचपन के जिस शहर का किशोर ताउम्र ज़िक्र करते रहे उसे अपनी आँखों से देखूँ। लिहाज़ा वो मुराद इस तरह पूरी हुई। लेकिन वीरानी और उजाड़ घर में देखकर मन कुछ उदास भी हो गया। इसके लिए सरकार और खंडवा-वासियों को मिलकर काम करना होगा। किशोर कुमार की यादें बस जायेंगी तो खंडवा भी अपने आप बस जायेगा। एक मायने में हम कलाकारों की यादों के बहाने अपनी संस्कृति की भी हिफ़ाज़त करते हैं।

**जावेद साहब, क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि फ़िल्मी गीतों को गंभीरता से नोटिस नहीं लिया गया?**

– बेशक़। फ़िल्मी गीतों के हज़ारों-लाखों दीवाने हैं। एक लाइन किसी को घंटों रूलाए रखती है तो कोई गीत किसी को ताउम्र रोशन करता रहा है। ये सच है कि बरसों तक लबों पर छाए रहने वाले गीतों पर कभी डूबकर बातचीत नहीं हुई। फिल्मी गाने हमारी ज़िंदगी का महत्वपूर्ण अंग है। मगर कई बार इनकी भावनाएँ हाशिये पर रख दी जाती हैं। इधर एक कोशिश का क़दम मैंने आगे बढ़ाया है। 'टॉकिंग सॉन्ग' नामक एक पुस्तक अंग्रेज़ी में ऑक्सफोर्ड युनिव्हर्सिटी से प्रकाशित हुई है। अंग्रेज़ी तर्जुमा (अनुवाद) डॉ. डेविड मैथ्यू ने किया है। हालाँकि अनुवाद में मूल भाषा का स्वाद नहीं रह जाता, जैसे इत्र को एक से दूसरी शीशी में डालो तो महक कुछ कम हो जाती है लेकिन महक आती तो है। इसी तरह अनुवाद में रचना का तेवर प्रभावित होता है। 'टॉकिंग सॉन्ग' के बहाने कुछ उम्दा और उपेक्षित गीतों के अनदेखे पहलुओं को देखा जा सकता है।

**शायरी तो आपको ख़ून में ही मिली। उसे आपने अपनी तरह से लिखा लेकिन फ़िल्मी गीतों को लिखते वक़्त दूसरे दबाव और अपेक्षाएँ हावी रहती हैं। आपका क्या अनुभव है?**

– ये सोचना तो सिरे से ही ग़लत है कि फ़िल्मों के लिए गीत लिखना आसान है। आमिर ख़ान की फ़िल्म 'मंगल पाण्डे' को ही लीजिए। एक चुनौती थी, क्योंकि कहानी 1857 की और सुनने-देखने वाली जनरेशन 2005 की। गीत ऐसे लिखने थे जो लगें तो पुराने मगर हों नए ज़माने के लिए। ऐसा करना नट की तरह रस्सी पर चलना था। ऐसा ही कुछ 'लगान' के गीतों को लिखते वक़्त भी महसूस हुआ। दरअसल, लिखना हो या खाना बनाना, बेहतर करना हमेशा मुश्किल है। ख़राब करना बहुत आसान। लेकिन जब कोई काम आपकी ज़रूरत बन जाता है तो उसमें धीरे-धीरे आत्मविश्वास आ जाता है।

**भोपाल आपकी यादों का शहर है। यहाँ पले-बढ़े, फ़ाकामस्ती की। अब दूर मुंबई को आपने बसेरा बना लिया है, तब भोपाल किस तरह कौंधता है?**

– भोपाल ने ज़िंदगी के कई तजुर्बे दिये। इस शहर ने शायरी, संगीत, नाटक और चित्रकारी की एक-से-बढ़कर एक प्रतिभाएँ देश को दी हैं। लेकिन इस मोहब्बतज़दा शहर को छोड़ना आसान नहीं। लेकिन जिसने छोड़ने की हिम्मत की उसने दुनिया में नाम रोशन किया। पर ये भी तय है कि भोपाल की क़ीमत भोपाल छोड़कर ही पता लगती है। भोपाल को याद करता हूँ तो मेरे गुरू मरहूम जहाँ क़दर चुगताई मेरे भीतर कौंधते हैं। मुझे फ़ख़्र है कि मैंने ऐसे गुरु से तालीम ली। उनका हर शागिर्द से गहरा नाता था। मेरा मानना है कि हर इंसान को ज़िंदगी में ऐसे गुरु ज़रूर मिलते हैं जिनको ज़रूरी नहीं कि वे यह बताएँ कि किताबों में क्या लिखा है, लेकिन वे इस बात की प्रेरणा जरूर देते हैं कि ज़िंदगी में क्या लिखा है। मरहूम चुगताई के दिये संस्कारों के प्रति मैं ताउम्र अहसानमंद रहूँगा। भोपाल तो जाता ही रहता हूँ और वहाँ जाकर इमोशनल भी हो जाता हूँ।

**आपने अपने ससुर प्रख्यात शायर कैफ़ी पर तो नज़्में लिखी हैं पर अपने पिता स्व. जांनिसार अख़्तर पर भी कुछ लिखा है?**

– हर घटना और व्यक्ति पर शायरी ठीक नहीं। हमें शायरी और डायरी में फ़र्क़ करना चाहिए। जां निसार के साथ इतने अनुभव हैं कि कभी समझा ही नहीं, क्या ज़्यादा अच्छा है। यही समस्या लिखने में आड़े आई।

**हिन्दू-मुस्लिम और भारत-पाक के रिश्तों को आप किस तरह देखते हैं?**

– देखिये, दोनों को एक साथ देखेंगे तो वही पायेंगे जो बातें अब तक की जाती रही हैं। धर्म किसी राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकता। यह बात समझनी होगी। बड़ा दिल हमें रखना होगा। भारत-पाकिस्तान के बीच वैमनस्यता मिटाने के लिए 'मासूमियत' की ज़रूरत है। मासूमियत ऐसी जिसे लाख धोखा पाने के बाद भी ज़िंदगी की ख़ूबसूरती पर यक़ीन हो।

**ज़िंदगी को इतना व्यापक, विविध और उपलब्धियों से भरा जीने के बाद आत्मकथा के रूप में तजुर्बों को लिखने का मन नहीं करता?**

– मैं सोचता हूँ, अपने बारे में सीधे-सीधे क्या कहूँ? कई अजूबों को शेयर करने की इच्छा तो है, पर फिल-वक़्त नहीं। हालांकि कई प्रकाशकों ने कहा है। अभी तो फ़िल्म स्क्रिप्ट के रुके सिलसिले से फिर जुड़ने जा रहा हूँ।

● ● ●

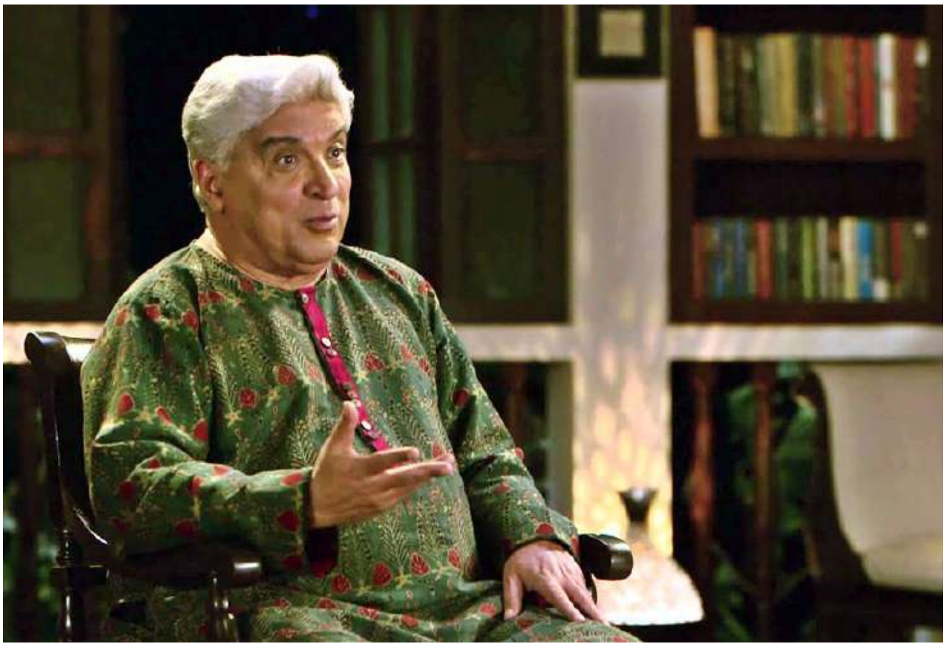

**मैं निर्देशक को पूरे अधिकार देने के पक्ष में हूँ और मैंने यह भी देखा है कि निर्देशक अधिक से अधिक कोशिश करता है कि वह कृति को नष्ट नहीं करता, उसे तरोताज़ा देखना चाहता है। दोयम दोनों ही हो सकते हैं लेखक भी और निर्देशक भी, इसलिए हमें हमेशा अच्छे लेखक और अच्छे निर्देशक को अपने विचार के केन्द्र में रखना होता है।**

# मैं निर्देशक को नाटक का समानांतर लेखक मानता हूँ

प्रभाकर श्रोत्रिय

**जयदेव तनेजा** – डॉ. श्रोत्रिय आप हिन्दी के ऐसे अनोखे आलोचक हैं जो आलोचना से नाटक में आए हैं और वह भी 'इला' जैसे नाटक के साथ। रचनात्मकता की ओर आपका रुझान कैसे हुआ? आपको इसकी प्रेरणा कहाँ से मिली?

**प्रभाकर श्रोत्रिय** – जयदेव जी, हुआ यह कि मैं एक काव्य की समीक्षा के संदर्भ में श्रीमद् भागवत देख रहा था कि मेरी निगाह सहसा 'इला' प्रसंग पर पड़ गई, मैं चकित रह गया। मेरे मस्तिष्क में बिजली सी कौंधी, मुंह से निकला– 'अरे, यह तो नाटकीय है!' और बिना देर किए उस पुस्तक की समीक्षा एक तरफ़ रखकर मैं नाटक लिखने लगा। मेरे सामने नए-नए दृश्यपट अनायास खुलने लगे। मुझे सृजन का आनंद आने लगा।

मैंने कई बड़े लेखकों के ऐसे अनुभवों के बारे में पढ़ा था, कि जाने कौन आता है जो रचना लिखा जाता है। मैं कहता था कि यह कोई और नहीं, अंतश्चेतना की जागृति है। सारी सुप्त शक्तियाँ जाग उठती हैं। यह क्षण रचना का बीज-क्षण होता है– एक अद्भुत चमक से भरा।' पर वह मेरा आलोचनात्मक सोच था– उसे मैं प्रत्यक्ष देख रहा था या कहूँ उसकी पकड़ में था। इसे आप चाहें तो प्रेरणा कह लें।

**परंतु इस क्षणिक कौंध से तो रचना लिखी नहीं जाती...**

– आपने ठीक कहा। पर वह 'प्रेरणा का क्षण' होता है, क्षणिक प्रेरणा नहीं होती। बीज जमीन में दीर्घकाल तक-पकता रहता है, कई बार बरसों तक... कई अंतरालों में। जैसे मेघों की घनी रात में बिजली की एक चमक अंतरिक्ष को आलोकित करती है, तो हमारी आँखों में वह अंतरिक्ष बस जाता है जो उस क्षण में आलोकित किया है। यह रचना का वणु जगत, उसके आयाम और व्याप्ति है। जब इस दिशा में एक बार चेतना सक्रिय हो जाती है तो शेष रचना व्यापार चलते रहते हैं।

**आपको 'इला' लिखने में कितना समय लगा?**

– पहली स्क्रिप्ट तो मैंने जल्दी लिख ली, पर वह बेहद कच्ची थी; असल में प्रस्तुति के लिए रचना में बहुत-सा काम करना होता है, नए विचार और तमाम आयाम धीरे-धीरे खुल कर रचना को एक रूप देते हैं। भाषा और संरचना के स्तर पर भी कठिन परिश्रम करना पड़ता है। पर वह कहीं भी बोझ नहीं होता, बार-बार माँजते, रचते हुए मैं आठवीं पाण्डुलिपि में जाकर संतुष्ट हुआ। इस काम में आठ-नौ माह लगे। पहली और अंतिम स्क्रिप्ट में ज़मीन आसमान का अंतर था।

**आपके इस उत्तर में से बहुत से प्रश्न निकलते हैं, पर मैं उन्हें छोड़कर आपसे केवल यह प्रश्न करना चाहता हूँ कि हमारे पुराणों में ऐसी अनेकानेक घटनाएँ हैं, जिन पर लिखा जा सकता है। आपने 'इला' को ही क्यों चुना?**

– रचना का भी कोई 'क्षण' होता है, इसके ऑरबिट में जो चीज आ जाती है वह भी अंतरिक्ष में चक्कर काटने लगती है। हम अपने दैनन्दिन जीवन में बहुत कुछ घटित होता देखते हैं, पर इनमें से कौन सी घटना हमें कब छू जाए कि रचना बन बैठे, इसका कोई गणित तो होता नहीं...

**फिर भी डॉक्टर साहब कोई-न-कोई बात तो होती है कि कोई लेखक विशेष वस्तु चुनता है...**

– एक सिद्ध आलोचक से बच निकलना बड़ा मुश्किल है। पर जयदेव जी, क्या लेखक ही 'वस्तु' को चुनता है, 'वस्तु' लेखक को नहीं चुनती? (सोचकर) शायद यह परस्पर होता हो! फिर भी आपका सवाल अपनी जगह मुकम्मिल है।

**(हँसी) हाँ वह तो है ही! कोई भी किसी को चुने कुछ 'विशेष' तो दोनों तरफ होता ही है?**

– कथा में तो बहुत कुछ चमत्कार, असाधारणतया और संभावनाएँ थीं, उसने मेरे मन में 'अतीत' को वैसे ही उजागर कर दिया जैसे अंधेरे में बिजली चमकने का उदाहरण दिया है। यह अतीत ही नहीं था, जिसे चेतना देख रही थी, वह वर्तमान को भी दीप्त कर रहा था। मैंने ऐसा लम्बा फलक कभी क्षणभर में न देखा था। उसने अपने पाश में मुझे बाँध लिया था, यह तो हुआ। पर आपके प्रश्न का दूसरा पक्ष बहुत मुश्किल में डालने वाला है। पर आपको संतुष्ट करने की कोशिश करता हूँ। वस्तु के अंतश्चेतना में कौंधने में मेरा कोई जीवनानुभव नहीं रहा होगा, यह कहना बेईमानी होगी, उस रूप में भले ही नहीं, पर उस अनुभूति में तो था। जैसे शोषित पीड़ितों और भूख से बिलबिलाते बच्चों पर रचना लिखने में लेखक के एक दिन भूखे रहने की अनुभूति अपनी संवेदना से जुड़कर एक मार्मिक रचना-रूप लेते हैं, वैसे ही दूर अनुभूति का कोई अंश रचना-क्षण को उत्प्रेरित करता है और लेखक में यह क्षमता होती है कि वह उसका विस्तार कर सके। इसे मनोविज्ञान में 'एनलार्ज इगोइजम' कहते हैं। जैसा आप जानते ही हैं। लेखक में यह शक्ति भी होती है, कि वह रचना से अपने निशान मिटाकर उसे 'आब्जेक्टिव' बना देता है। लेकिन यह सब 'सृजनानुभव के दौर में होता है, 'बीज-क्षण' में जिसे हम 'प्रेरणा का क्षण' कहते हैं- उसमें नहीं; उसमें तो जीवनानुभूति एक 'कारण' की तरह दीप्त होती है, जिसकी चर्चा दर्शन करता है।

**इस पर आपसे विस्तृत संवाद हो सकता है, पर मैं विधा को लेकर प्रश्न करूँगा, आप आलोचना के आदमी और आपने सृजन की सबसे कठिन विधा चुनी जिसके लिए रंगमंच की गहरी संलग्नता और ज्ञान चाहिए। क्या आपको रंगमंच का अनुभव था?**

– सिर्फ़ व्यावहारिक ज्ञान था, क्योंकि मैं एम.ए. में नाट्य शास्त्र पढ़ाता था। जिसमें भारतीय और पाश्चात्य रंग मंच का ज्ञान ज़रूरी था। नाटक देखने में मेरी रुचि थी जैसी आम दर्शक की होती है। बचपन में दो-एक नाटकों में अभिनय किया था। हरिकृष्ण प्रेमी का एक नाटक याद आता है- 'प्रताप प्रतिज्ञा' उसमें मैं शक्ति सिंह बना था- राणा प्रताप का छोटा भाई, जिससे तीखे संवादों में दोनों ओर तलवारें खिंच गई थीं। मंच पर तलवारों की खनखनाहट हो रही थी, इसी दौर में प्रताप की तलवार शक्ति सिंह की भौंह पर लग गई और खून की धारा बह गई, पर यह नाटक पूरा किया गया।

दर्शकों को तो नाटक में यथार्थ का मजा आया होगा। खून बहाकर शक्तिसिंह ने पुरस्कार पा लिया था। पर आज तक भौंह पर इस नाटक का निशान बाक़ी है।

**(हँसी) तो रंगमंच का यह अनुभव था आपके पास?**

– शूर–वीरों जैसा (हँसी)... पर अब असल बात पर आता हूँ। न मेरे पास रंगमंच का अनुभव था, न मैं इसे एक नाटककार के लिए ज़रूरी मानता हूँ। जयशंकर प्रसाद पर जब ऐसे आरोप लगाए गए तो उन्होंने कहा था– 'मैंने नाटक रंगमंच के लिए नहीं लिखे, मेरे नाटक के अनुरूप रंगमंच बनना चाहिए।' इसके भीतर तत्कालीन पारसी थियेटर पर आक्रमण था, जिसकी प्रतिक्रिया में उन्होंने नाटक लिखने का संकल्प किया था, पर आख़िर प्रसाद का रंगमंच बना और यह ब.व. कारंत और शांता गांधी ने उनकी मृत्यु के चालीस साल बाद बनाया। कहीं गिरीश कार्नाड ने भी अपने साक्षात्कार में कहा था कि उन्हें रंगमंच का कोई अनुभव नहीं था, जब उन्होंने नाटक लिखना प्रारंभ किया और इसे वे ज़रूरी भी नहीं मानते।

लेकिन यहाँ मैं एक अनुभव और सोच आपसे बाँटना चाहता हूँ। वैसे तो सोच और रचना में यह अंतर है कि सृजन करते समय हर लेखक के मन में बिम्ब बनता है, जबकि विचार प्रायः बिम्बहीन होते हैं। इसलिए लेखक की हर रचना उसके भीतर अभिनय करती है। इसका लाभ एक नाटककार को भी मिलता है, पर जब कोई लेखक रचना को नाटक के रूप में लिखता है तो तकनीकी रूप से न सही, अनुभूति के रूप में उसके भीतर एक रंगमंच जन्म लेता है, उसे कोई जगह कोई पात्र और सामने बैठे दर्शक नजर आते हैं जो हँस रहे हैं, अभिभूत हो रहे हैं, बेचैन प्रश्नाकुल हो रहे हैं और शायद निराश भी हो रहे हैं– ये सोच उसके मन में सामने से चेहरे पर पड़ी रौशनी की तरह होते हैं... आप क्षमा करें, एक प्रतिष्ठित नाट्यालोचक के सामने यह मेरा बड़बोलापन है।

**(हँसी) नहीं, आप भी तो आलोचक हैं... परंतु एक-दूसरे की रचना-प्रक्रिया न जानने के कारण अक्सर लेखक और निर्देशक के बीच टकराव हुआ है। लेखक को लगता है कि उसके नाटक के साथ छेड़छाड़ हुई है जिसे वह पसंद नहीं करता। इसके बारे में आपका क्या दृष्टिकोण है?**

– जयदेवजी, मैं महसूस करता हूँ कि अच्छा निर्देशक नाटक की दूसरी शक्ति है। नाटक की सफलता का बराबर श्रेय मैं निर्देशक को देना चाहता हूँ। इसी तरह उसकी असफलता के लिए भी निर्देशक बराबर का दोषी है, क्योंकि नाटक का चयन वह करता है, रंगमंच को अत्यंत समृद्ध और आकर्षक भाषा उसके पास है, पाठक के मनोविज्ञान और प्रतिक्रिया की पूर्व कल्पना की उससे उम्मीद की जाती है, पात्रों का चयन संवाद की प्रस्तुति आदि पचीसों चीज़ें उसी के अधीन होती हैं। एक लेखक के नाते मैं यह अनुभव करता हूँ निर्देशक की विधा लेखक से अलग है, उस विधा में उसे नाटक पर काम करना है, उसकी यह ज़िम्मेदारी भी है कि नाटक में निहित ख़ूबियों को उभारे और उसकी आत्मा को अपनी विधा के माध्यम से अधिक ताक़तवर रूप में प्रेक्षकों के सामने रखे। मैंने निर्देशकों और पात्रों का अथक परिश्रम देखा है, ऐसे में मैं निर्देशक को नाटक का समानान्तर लेखक मानता हूँ। अगर हम उसे इतनी ज़िम्मेदारी देते हैं और उससे इतनी अपेक्षा करते हैं तो उसे महत्व भी वैसा ही मिलना चाहिए। परंतु मैं इस बात का सामान्यीकरण नहीं रखता हूँ और दोनों ओर की श्रेष्ठता को ही मानक मानता हूँ।

नाटक को यदि एक और प्रतिभा का सहयोग मिलता है तो नाटककार को ख़ुश होना चाहिए। कई बार अच्छे निर्देशक नाटक की शक्ति को दोगुना बढ़ा देते हैं। ऐसे में यदि उन्हें नाटक के मंचन में थोड़ी बहुत छेड़छाड़ करनी पड़े तो यह उसकी विधा की आवश्यकता से जोड़नी चाहिए, उसकी हठधर्मी या दख़लंदाज़ी से नहीं।

नाट्य कर्म अकेले लेखक से संभव नहीं है, निर्देशक और उसकी टीम के बिना उसकी सार्थकता नहीं है। इसलिए मैं निर्देशक को पूरे अधिकार देने के पक्ष में हूँ और मैंने यह भी देखा है कि निर्देशक अधिक से अधिक कोशिश करता है कि वह कृति को नष्ट नहीं करता, उसे तरोताज़ा देखना चाहता है। दोयम दोनों ही हो सकते हैं लेखक भी और निर्देशक भी, इसलिए हमें हमेशा अच्छे लेखक और अच्छे निर्देशक को अपने विचार के केन्द्र में रखना होता है।

**जब आपका पहला नाटक मंचित हुआ तो क्या निर्देशक ने आपको परिवर्तन का कोई सुझाव दिया था, या बाद में मंचनों में ऐसा हुआ था?**

– मैंने पूरे महीने पूरे समय रिहर्सल देखी– एक कोने में बैठकर। पर न मैंने एक शब्द कहा और न निर्देशक ने पूछा। मैंने सदा निर्देशक और पात्रों का उत्साह बढ़ाया।

अब, आपने कहा तो सोचता हूँ कि निर्देशक ने ऐसा क्यों नहीं किया, जबकि उसने उस नाटक को संपादित किया था, सिर्फ़ छोटा करने के लिए नहीं बल्कि शायद नाटक की अन्य ज़रूरतों के लिए भी। और बड़े अधिकार के साथ।

मुझसे शायद उसने इस आशंका से कुछ न पूछा हो कि मैं नाटक में मीन-मेख निकालूँगा, उसकी अंतर्योजना और तन्मयता भंग करूँगा- जैसी कि लेखकों की आदत होती है। और यह भी नहीं है कि मुझे कुछ भी अखरा न हो!

**...फिर भी आपने अपनी आपत्तियाँ क्यों नहीं रखीं? आखिर कृति तो आपकी ही थी...?**

- प्रिय भाई, नहीं, अब कृति उसकी थी। यह नाटक मेरे सामने खेला गया, पर पचीसों जगह नाटक हमारी अनुपस्थिति में होते हैं, हमारे न रहने पर भी, यदि उनमें शक्ति हुई, तो होंगे। हम कहाँ-कहाँ जाकर आपत्तियाँ दर्ज कराएँगे। दर्शकों की प्रतिक्रिया निर्देशकों को अपनी जगह दिखा देगी।

जिस तरह निर्देशक नाटक का 'इंप्रोवाइजेशन' करता है वैसे ही अपने प्रदर्शन को भी हर बार इम्प्रूव करता है; क्योंकि मंचन हमेशा रचनात्मक होता है और कभी दोहराया नहीं जा सकता है। अपनी बात कहूँ तो मैं अपने नाटक का एक दर्शक होता हूँ। मंचन के बाद उतनी प्रतिक्रिया भी प्रकट कर सकता हूँ।

इस पहले मंचन की बात आपने की तो बता दूँ कि निर्देशक अशोक बुलानी नामी गिरामी नहीं थे, परंतु उनका पात्रों का चयन अद्‌भुत था। हर पात्र बेहद उपयुक्त, संवाद जो उस नाटक का प्राण थे अत्यंत शुद्ध और अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले उच्चारण सहित, कि अगर यह न होता तो नाटक नष्ट हो जाता। अपने कोरियोग्राफिस्ट के रूप में प्रभात गांगुली को चुना था अत्यंत प्रसिद्ध और अनुभवी। उन्होंने स्त्री-पुरुष परिवर्तन वाले दृश्य अकल्पनीय रूप से रचे थे। यही बिन्दु था जिसे लेकर मंचन के प्रति आशंका जताई गई थी। रूपाली वालिया जो इला की भूमिका में थीं कथक की प्रसिद्ध नृत्यांगना थीं, खानवलकर ने सुद्युम्न की मार्मिक भूमिका निभाई, सुनीति के रूप में रीता वर्मा जो जया बच्चन जी की बहन हैं। अबरार हस ने मनु और उदय शहाणे ने वशिष्ठ की अच्छी भूमिका निभाई। ऐसी टीम को लेकर किये 'इला' के पहले मंचन ने अपूर्व सफलता हासिल की। छोटी बातों को छोड़ कर मैं इतनी बड़ी सफलता को छोटा करता क्या?

जब नाटक देख कर मैं बाहर निकला तो भारत भवन, रंग मंडल के कारंतजी के सहायक निदेशक पेड़ के नीचे खड़े मिले और हताश से बोले- इसमें निर्देशक का तो कोई काम ही नहीं हुआ। मैं कुछ नहीं बोला, बस यह देख पाया कि जैसे वे किसी सृजनात्मक बेचैनी से विह्वल थे। बुलानी का जो काम था, वह निर्देशक का नहीं तो किसका था?

**क्या प्रतिक्रियाओं और प्रस्तुतियों को देख कर आपने अपने नाटकों में परिवर्तन किए हैं?**

- हाँ, मैं दर्शक के रूप में या अपने नाटकों को समीक्षा के पाठक के रूप में हमेशा एक जिज्ञासु विद्यार्थी रहा हूँ। मैंने उनसे सीखा है और अगर मुझे ज़रूरी लगा तो मैंने संशोधन भी किया है। डॉ. तनेजा, आपने ही 1989 में 'सारिका' में डूब की पहली समीक्षा की थी और कई सुझाव दिए थे। इसी तरह कई मंचनों में कई बातें सामने आई थीं। इला के दूसरे संस्करण के समय मैंने सभी समीक्षाओं को सामने रखा था और कुछ ज़रूरी लगने वाले संशोधन किए थे। 'इला' के अन्य संस्करण के समय मैंने डॉ. गिरीश रस्तोगी द्वारा गोरखपुर में किए मंचन की नाट्य स्क्रिप्ट मंगवाई और उचित लगने वाले संशोधन किए। ऐसा भले ही बहुत कम किया हो, पर किया और उससे ज़्यादा सीखा।

**आपके नाटक 'साँच कहूँ तो' का मंचन दिल्ली में 'मिराण्डा हाउस' में हुआ था, सुना है वह आपको पसंद नहीं आया था और अनेक प्रबुद्धजनों को भी, जिन्होंने नाटक देखा था।**

- यह सही है। उसे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के प्रशिक्षित निर्देशक ने किया था। मैं उस नाटक को देखकर स्तब्ध रह गया। निर्देशक ने अपना पूरा ज्ञान, समस्त रंग-युक्तियाँ, आदिवासी नृत्य तक उस नाटक में शामिल कर दिया था। दर्शकों ने उसे एक हास्यास्पद प्रस्तुति कहा, परंतु युवा निर्देशक उसे एक सफल प्रस्तुति मान रहा था। एक दिन बातचीत में मैंने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निदेशक प्रो. देवेन्द्र राज 'अंकुर' को इसकी शिकायत की तो उन्होंने यह बात नज़रअंदाज़ करते हुए कहा- 'यह लेखक और निर्देशक का सनातन द्वन्द्व है।' यही नाटक मैंने पहले ग्वालियर में डॉ. कमल वशिष्ठ के निर्देशन में देखा था, प्रसिद्ध संगीतकार श्याम अग्रवाल ने इसके गीतों को संगीत में पिरोया था। नाटक प्रभावशाली हुआ था।

**आपका तीसरा नाटक 'फिर से जहाँपनाह' भी मैंने पढ़ा है। संरचना की दृष्टि से मुझे लगा कि आपने उसे दो अलग-अलग खंडों में लिखा है और बाद में एक पात्र कबीर के माध्यम से जोड़ने की कोशिश की है या यूनिटी लाने की कोशिश की है। क्या आप इस प्रयास में सफल हुए हैं?**

– मैंने उसे अलग–अलग खण्डों में लिख कर तो नहीं जोड़ा, पर उसे पढ़कर यह धारणा अस्वाभाविक नहीं लगती। मैंने उसे एक साथ परिकल्पित किया था और कबीर की रचना भी प्रारंभ से ही की थी। मैं दो समयों के सत्ता चरित्रों और सत्ता प्रणालियों द्वारा यह कहने की कोशिश कर रहा था कि चाहे जो युग हो या कोई भी व्यवस्था हो, सत्ता का चरित्र समान होता है, वही शोषण वही–क्रूरता, चापलूसी, अय्याशी, भ्रष्टाचार, छल–छल, षड्यंत्र, उठा–पटक बनी रहती है। हर सत्ता साधारण आदमी का, ग़रीब का शोषण करती है वह सिर्फ़ अपनी शैली बदल लेती है। इसमें दो युग हैं– प्रजातंत्र और एकतंत्र का युग; जो पात्र एक युग में इन सत्ता–चरित्रों का विरोधी होता है वही जब दूसरे युग में सत्ता में आ जाता है तो वही सब करने लगता है। इसीलिए दोनों खंडों के पात्र पर उनके नाम बदले हुए हैं। पद बदले हुए हैं। तरीके बदले हुए हैं। 'कबीर' जनता का प्रतीक है जो दोनों में एक है। शाश्वत रूप से इस व्यवस्था का प्रेक्षक है और जनता को जगाता भी है।

नाटक कहता है कि सत्ता भ्रष्ट नहीं करती है, फिर चाहे जिस रूप और युग में हो। परंतु अंत में कहा गया है कि संसार को सभी व्यवस्थाओं में प्रजातंत्र एकमात्र विकल्प है, फिर वह चाहे जितना विकृत हो। बस जनता को संगठित और जाग्रत करता है। डॉ. देवेन्द्रराज अंकुर ने इसे पाण्डुलिपि में देखा था और विस्तृत सुझाव दिए थे, दो खण्डों की बात तो उन्होंने नहीं कही थी, परंतु मुखौटा शैली अपनाने का सुझाव दिया था। उनके सुझावों में मुझे जो उचित लगे उन्हें शामिल करने की कोशिश की पर मुखौटा शैली न अपना सका। भोपाल में जयंत देशमुख ने इसके अतीत वाले खंड का मंचन किया था। दो–एक जगह हुआ भी था, परंतु अवधारणा की परिपक्वता के बावजूद मुझे यह नाटक कमज़ोर लगा था और मैंने इसमें कई बार फेर–बदल भी किए। परंतु लगता है नाटक फिर नए सिरे से लिखने की माँग करता है। संभव है अगले संस्करण में आप उसे नए रूप में देखें।

**मैंने देखा है कि अधिकांश भारतीय नाटककारों ने अतीत को अपने नाटकों का आधार बनाया है, इसका मूल कारण क्या है? क्या यह सुविधाजनक है?**

– यह सुविधाजनक तो नहीं है। क्योंकि अतीत से एक बनी बनायी कथा तो मिल जाती है, पर कोई भी समकालीन दर्शक पुराणों को या इतिहास को नाटक में देखने नहीं जाता, उसे नाटक में अपना समय चाहिए और नाटककार को अपना समय जो कल भी प्रासंगिक हो। तीनों की मांग अलग अलग होती है इनमें 'अभेद काल' की सृष्टि करना सबसे जटिल काम है। परन्तु इसे किए बिना नाटक की कोई अर्थवत्ता नहीं है।

आपका पहला प्रश्न और भी जटिल है। यह सच है कि अधिकांश भारतीय नाटक पुराण या इतिहास के आधार पर लिखे गए हैं।

पौराणिक साहित्य का आधार लेने का सबसे बड़ा कारण तो यह हो सकता है कि भारत का पौराणिक साहित्य दुनिया में सबसे अधिक समृद्ध है। उसमें असंख्य प्रतीकात्मक फेंटेसियाँ हैं, विविधता है और सबसे बड़ी बात है कि वह लचीला है। उदाहरण के लिए पूरी दुनिया में, पुराणों में धार्मिकता प्रधान होती है और ज़बरदस्त रिजिडिटी है। परन्तु भारतीय पुराणों मे अद्भुत लचीलापन है और मिथकीय बहुलता के लिए बहुत अवकाश है।

दूसरी बात यह है कि यहाँ 'काल–बन्ध' नहीं है विराट काल यहाँ प्रवाहित है। एक पात्र भाँति–भाँति के कालों में है, कहीं वह पुराना नहीं है, बूढ़ा है तो हर युग में बूढ़ा है, जवान है तो हर युग में जवान है, इसलिए कथाओं की यात्रा पात्रों के साथ निर्बाध होती रहती है। तीसरी बात यह है कि उसकी आनुवांशिकता अक्षुण्ण है और जब से डी.एन.ए. का मानवजाति को ज्ञान हुआ है तब से यथार्थ की अवगति और उच्चतर मूल्यों के प्रति मनुष्य की गूढ़ ललक का 'गत्यात्मक समन्वय'।

**अंत में एक प्रश्न। आपकी आलोचना सर्जनात्मक होती है और नाटक तो सृजन–विधा है ही। इन दोनों की सर्जनात्मकता में आपको क्या अंतर लगा?**

– यह एक जटिल प्रश्न है और सच तो यह है कि इस पर पहले मैंने विचार नहीं किया और न किसी ने मुझसे पूछा। अब लगता है कि आलोचना और नाटक की सर्जनात्मकता के अंतर्संबंध पर मुझे लंबा लेख लिखना चाहिए पर यहाँ इसका अवकाश नहीं है इसलिए कुछ बातें सूत्र रूप में कह सकता हूँ। मेरे विचार से सर्जनात्मकता लेखन के 'उपादानों' में नहीं है, उसके अंतर्निहित 'गुण' में है। आनंदवर्धन ने एक मार्मिक बात कही है कि सुंदरता बाह्य उपादानों, यानी आँख, नाक, कपोल आदि में नहीं है, यह उससे परे 'लावण्य' में है। जब गोरे रंग को सुंदरता का प्रतीक माना जाने लगा तो इसके ख़िलाफ़ कहा गया– 'ब्लैक इज़ ब्यूटीफुल' इसमें

भी शायद यही कहा गया था कि रंग-रूप को आक्रांत करने वाला 'लावण्य' ही सौन्दर्य है, आप नाटक 'रंग-रूप' से परिभाषित करते हैं।

अगर मैं कहूँ कि आलोचना में बौद्धिकता, तर्क, विश्लेषण, विवेक, तटस्थता या वस्तुगतता आदि होती है, जबकि रचना में अनुभूति सौन्दर्य, कल्पना आदि आदि होती है, तो क्या यह उचित होगा? क्या रचना के भीतर आलोचनात्मक गुण, बौद्धिकता, विवेक, निरपेक्षता वगैरह नहीं होती है? इसी तरह आलोचना में अनुभूति, सौन्दर्य-बोध आदि नहीं होते- अगर न होते तो वह सुंदर की अनुभूति कैसे कर पाती रचना में पगे बिना या स्वयं रचनात्मक हुए बिना क्या सच्ची और आश्वस्त करने वाली आलोचना लिखी जा सकती है? इसलिए यह भेद मूलतः वह यह बात ज़्यादा समझने लगी है कि हमारी मूल वस्तु किस तरह कालयात्रा करती है। ख़ैर, आनुवंशिकता का नव्य रूपायन हमको चमत्कृत करता, मुग्ध करता और अपने बोध जैसा लगता है। पुराणों के हम इतने मायावी रूप बना सकते हैं जिससे वर्चुअल रियलिटी या वायवीय यथार्थ विभिन्न समयों को आक्रांत करता चलता है। पाठक को अपना-सा लगता है। इतिहास पर आधारित कम रचनाएँ हैं और उनका जीवन इतना दीर्घ नहीं होता और होता है तो उस रचना में अखूट सर्जना शक्ति की ज़रूरत है। इतिहास का भाँति-भाँति से मूल्यांकन हुआ है, विश्लेषण हुआ है और नए अर्थ निकाले गए हैं इसलिए साहित्य को वह सृजन-स्रोत लगता है।

अत्यंत प्रतिष्ठित सांस्कृतिक आलोचक डॉ. देवराज ने अपनी पुस्तक 'दर्शन, अध्यात्म और संस्कृति' में लिखा है कि 'जिसे हम स्तरीयता कहते हैं, उसमें यथार्थ की अवगति और उच्चतर मूल्यों के प्रति मनुष्य को गूढ़ ललक का गत्यात्मक समन्वय रहता है। इस दृष्टि से डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय का 'इला' नाटक आधुनिक बन पड़ा है। विषय और विवरणात्मक उपस्थापन दोनों दृष्टिकोण से वैसा सफल उपस्थापन न कर सकने के कारण प्रसाद की 'कामायनी' मेरी दृष्टि में 'इला' की तुलना में उन्नीस ही ठहरती है।' क्या आप समझते हैं कि 'इला' कामायनी से बड़ी कृति है?

डॉ. देवराज बहुत बड़े आलोचक हैं, न मैं उनके कथन पर टिप्पणी करने लायक हूँ न आपके प्रश्न का उत्तर देने लायक। बस यही कहूँगा कि आप कृपया 'संदर्भ' पर विचार कर लें। होने का कारण डॉ. देवराज से हम ज़रूर ले सकते हैं- यथार्थ की अवगति और उच्चतर मूल्यों के प्रति यह की गूढ़ ललक का 'गत्यात्मक समन्वय'। मैं प्रश्न का उत्तर शायद उतना सटीक नहीं दे पाया जितना डॉ. देवराज ने इस एक वाक्य में दिया।

● ● ●

**समय बदलता है, पीढ़ियाँ बदलती हैं और समाज में भी बदलाव आता है। इसी बदलाव में साधना और समर्पण भाव के कारण कलासाधक नवाचार और नए प्रभावों के साथ समाज को नई दिशा देते आये हैं। स्त्रियों को नृत्य संगीत कला से जुड़ना भी समाज ने स्वीकार नहीं किया था, वहीं प्रगतिशील परिवारों के सहयोग और आत्मबल ने सितारा देवी, रोहिणी मारे, दमयंती जोशी जैसी कथक नृत्यांगनाओं को कथक का उदार और अभिन्न हिस्सा बनाया।**

# मनोरंजन क्षणिक होता है, भक्ति की लौ देर तक जलती है

शोभना नारायण

**चित्रा:** कथक की प्राचीनता को देखते हुए कथक का मूल स्वरूप या प्रतिमान क्या है?

**शोभना**– कथा कहकर ईश्वर की आराधना करने वाले कथक कहलाये। कहा गया है कि कथक योग साधना है। इसकी मूल मुद्रा भी योग की ही है। ढाई हज़ार वर्ष पूर्व चौदहवीं शताब्दी के प्राकृत अभिलेख में भी कथकों का ज़िक्र है। उस काल में गंगा किनारे को ने हंगार नृत्य कर आदि नाम की आराधना की। इस नृत्य से आदिनाथ भी भावविभोर हो गये। कथक तब से ही है, उसकी प्रस्तुति के तरीक़ों में फ़र्क़ आता गया। आज हम धारक कथक हैं। मतलब पात्र को धारण कर कथा कहते हैं और रसों, भावों, हस्तकों, भावभंगिमाओं के साथ कथक नृत्य को पूर्णता देते हैं। अन्यथा हम वाचक कथक कहलायेंगे।

कथक का मूल स्वरूप तो भगवान की लीलाओं का बखान कर स्तुति करना है, हाँ समयानुसार इसकी प्रस्तुति के स्वरूप में बदलाव आए।

**आपने स्वयं बम्बई में कुन्दनलाल गंगानी से जयपुर घराने के कथक की शिक्षा ली तथा बाद में पं. बिरजू महाराज जी से दिल्ली में लखनऊ कथक को सीखा। आपका कथक का घरानों में विभाजन के विषय में क्या नज़रिया है?**

– देखिए कथक वहीं पनपा, जहाँ पेट्रिनिज्म रहा। मतलब जहाँ शास्त्रीय संगीत वातावरण में रहा। लखनऊ घराने के कथक में पं. बिरजू महाराज के पूर्वज हड़िया तहसील के रहे, परन्तु वे लखनऊ में आकर बसे, और नवाब वाजिद अलीशाह के कला प्रेम ने सभी गुरुजनों का न सिर्फ़ दरबार में आश्रय दिया बल्कि स्वयं नवाब इनके शिष्य बने। अत: कथक का मूल तो जैसा पहले था वैसा ही रहा परन्तु दरबारी वातावरण मिलने से प्रस्तुति का अंदाज़ अलग हो गया और लखनऊ कथक के तौर पर स्थापित हो गया। जयपुर में राजा-महाराजा हमेशा युद्ध में रहे और उनके भाव में वीरता रही तो वहाँ के कथक में भी द्रुतलय के साथ नृत्य करने का अन्दाज आया

और ठुमरी, अभिनय कम देखने में आया और जयपुर घराने के रूप में अपनी प्रस्तुति के अन्दाज़ ने इसे स्थापित किया। बनारस घराना इन दोनों घरानों का मिश्रण है। लयकारी भी है और भाव पक्ष भी। रायगढ़ कथक में रायगढ़ के महाराजा चक्रधर सिंह स्वयं कलाकार थे। इसलिए उन्होंने अपनी कल्पनाशक्ति से और प्रकृति को केन्द्र में रखकर परनों के रूप में जैसे दलबदल परन, बिजलीपरन, पक्षीपरन के रूप में व्यक्त किया और उन रचनाओं की प्रस्तुति के अपने अलग अन्दाज़ तथा जयपुर लखनऊ की मिलीजुली नृत्य परम्परा ने रायगढ़, कथक में जो विभिन्नता अर्जित की तो उसकी पहचान बनी।

**घरानों में बंटने से क्या कथक का विकास अवरुद्ध हुआ?**

– पहली बात तो ये है कि ये घराने लगभग 200 वर्ष पुराने ही हैं। हो सकता है इन घरानों की पहचान सामने आने के पहले भी कभी और घराने रहे हों। हर युग में प्रतिभावान लोग, उनकी अपनी सोच भी रही होगी, डॉक्यूमेन्टेशन न होने से हमें समुचित जानकारी नहीं है। इन घरानों की पहचान का समय एक दूसरे के नज़दीक होने की वजह से ये हमारी जानकारी में अब है। हालाँकि घरानों के बँटने से विकास अवरुद्ध नहीं हुआ। सबका मूलभाव तो वही है। उसे विभाजन न कह कर शाखायें रहना ज़्यादा सकारात्मक भाव है।

**नाट्यशास्त्र के सिद्धाँत से सभी शास्त्रीय विधायें अपने रिश्ते को जोड़ती हैं, कथक का कौन सा तार नाट्यशास्त्र से जुड़ा है?**

– पहले तो ये समझना ज़रूरी है कि शास्त्र है क्या? शास्त्र में किसी म्यूजिक या नृत्य का ज़िक्र नहीं है। इसके 36 चैप्टर में पहले चैप्टर में पूजा–पाठ की विधि व आदिनाग को स्थापित करना है कि शिव संगीत जानते थे। नाट्यशास्त्र हमारे अपने जीवन की गतिविधियों का शास्त्र है।

**सबके लिए नाट्यशास्त्र है और कथक भी हमारे जीवन का ही अंग है।**

– कथक में तो भक्ति की कथाएँ कही बजाए कही गई। कथा कहते–कहते कथक शास्त्रीयता के दायरे में आ गया। बरसों से आपके पास बहुत सी महत्वपूर्ण जिम्मेदारी रही और साथ–साथ आपके कथक प्रेम ने कथक को भी एक जगह दी।

**कथक की मूल आत्मा को रखते हुए आपने अपनी संरचनाओं में नयापन कैसे लाया?**

– हाँ, जानबूझ कर ना तो कोई नयापन लाता है ना मैने नयापन लाया। हर व्यक्ति की अपनी सोच है उसी सोच और व्यक्तित्व के अनुसार उसकी जीवन शैली है। मेरे लिए कथक मेरी आत्मा है। मैं अपनी अभिव्यक्ति कथक के द्वारा करती हूँ, वो आप लोगों के लिए नया प्रयोग है। बहुत समय पहले विदेश में वहाँ के म्यूजिक को सुनते–सुनते मैं नृत्य करने लगी तो म्युजिक कहीं का हो दिल को छूने पर आपकी अपनी अभिव्यक्ति अपने माध्यम से होने लगती है।

**मीरा, सूर, तुलसी के काव्य में तो गहरी लयात्मकता तथा आख्यान मिलेगा परन्तु व्यक्ति केंद्रित रचनाएं भी आपने की हैं जैसे गांधीजी, कस्तूरबा आदि पर इनमें तो सिर्फ़ कथा है, इसे स्पष्ट करें।**

– संगीत तो इसमें भी है। हाँ छन्दों में बँधा होने से ताल–लय में लाना मुश्किल नहीं होगा। अगर रिद्मिक नहीं भी है तो नृत्य का महत्वपूर्ण अंग रसभाव तो है। तो हम उन्हीं भावों को सुरों में ढाल कर नृत्य द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। चूँकि नृत्य मेरा माध्यम है, इसमें मैंने काम किया। थियेटर वाले अपने माध्यम को इस्तेमाल करेंगे। साहित्यकार ने भी तो अपनी कलम के माध्यम से चरित्र को पन्नों पर उतारा।

**श्रृंगार और वेशभूषा नृत्यविद्या का महत्वपूर्ण अंग है और इनका अनिवार्य आकर्षण दर्शकों के मन में उतरने का काम अंजाम देता है। पर हमारी देह और भीतर का जो नैसर्गिक सौंदर्य भाव है, तो वह बनावटी सौंदर्य से बाधित होता है, क्या आपको ऐसा लगता है?**

– बाहरी और अन्दरूनी दोनों तरफ़ के सौंदर्य का जोड़ ही महत्वपूर्ण है। यह भी योग बनाता है। सुन्दरता सभी को आकर्षित करती है, परन्तु अगर उसमें कोई तत्व नहीं है तो सौन्दर्य को भी देखना चाहते हैं। नृत्य में भी बाहरी सौन्दर्य एक गरिमा के साथ ज़रूरी है। हम पूजा करते हैं तो पवित्रता के साथ ही तो करते हैं।

**कथक ईश्वर की आराधना, स्तुति और भक्ति है तो क्या इसे मनोरंजन की कला कहना गलत है?**

– मनोरंजन बहुत क्षणिक होता है, परन्तु भक्ति की लौ बहुत देर तक जलती है। चाहे हम स्वयं हो या रसिक का मन मनोरंजन भी आवश्यक है परन्तु शास्त्रीय नृत्य व संगीत अन्दर से आनन्द देते हैं। एक ख़ुशबू

की तरह बहुत देर वह हवा में इसका आनन्द सृजित करता है। दर्शकों के समक्ष हम अपनी भक्ति और आनन्द के ज़रिए सभी को आनन्दित कर रहे हैं।

**अन्य शास्त्रीय नृत्य विधाओं के विषय में आपकी दृष्टि?**

– सभी शास्त्रीय नृत्य विधाएँ बहुत अच्छी हैं। मैं सबका सम्मान करती हूँ परन्तु मुझे अपना सिर्फ़ कथक ही लगा और लगता है।

**शोभना जी, कथक और साहित्य के अंतर्संबंध में आपके क्या विचार हैं?**

– पहले तो कथक ही कथा कह स्तुति करने वाले कहलाये तो शब्द और कथक का मूल साहित्य से है। इसका अटूट सम्बन्ध है। हम जो अभिनय करते हैं वह किसी न किसी पद पर आधारित है, अतः वह साहित्य है। कथक के तोड़े, परन जिसे टैक्नीकल भाग कहते हैं, की तरफ देखें तो कवित्त परन भी साहित्य है। कथक के सौंदर्य को साहित्य का आभूषण और चार चाँद लगाता है।

● ● ●

**बुनियादी पाठ कविता का बना रहे, उसका अन्तर्निहित संगीत जो आप कह रहे हैं, जो मौलिकता के साथ आता है वो और उसके साथ कम्युनिकेटिव बनाने के लिए कि सम्प्रेषण का एक और नया धरातल तैयार हो। इसको लेकर कुछ प्रयोग किये हैं। लेकिन आप जो कह रहे हैं उसमें बहुत गहरे डूबने की और अभिनव प्रयोग की आवश्यकता तो बनी हुई है। बहुत सारे गायकों ने भी ये प्रयोग किये हैं। अच्छी कविताओं को चुना है।**

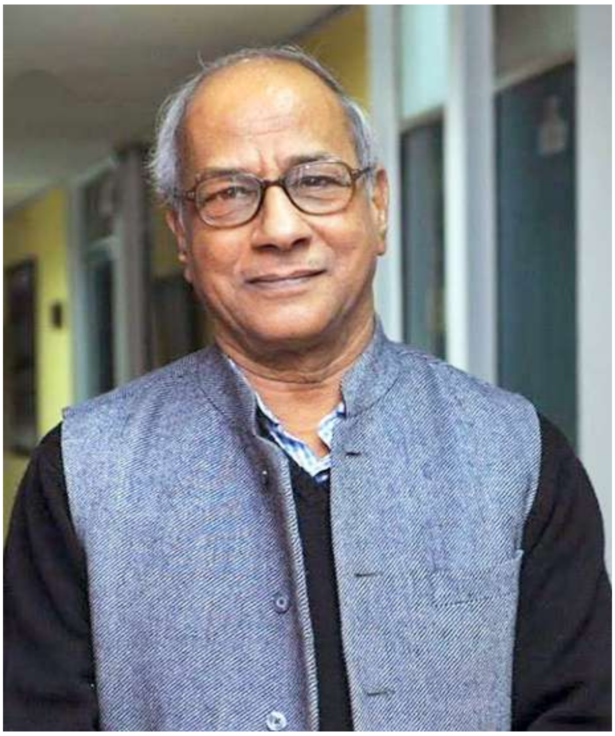

# संगीत में कविता की आवाज़ बची रहे

मंगलेश डबराल

**विनय उपाध्याय:** समकालीन कवियों में आपका विशेष महत्व है। आपकी कविता में एक ऐसा आन्तरिक संगीत चलता रहता है, जो कविता को ज़्यादा मार्मिक और संवेदनशील बनाता है। क्या आपने कभी संगीत का व्यवस्थित प्रशिक्षण लिया है या ऐसा ही कुछ?

**मंगलेश डबराल:** मुझे नहीं मालूम कि मेरी कविताओं का क्या महत्व है। लेकिन जहाँ तक संगीत की बात है, मेरे पिता ख़ुद गाते थे, नाटकों में अभिनय करते थे, नाटकों का निर्देशन करते थे और हारमोनियम बजाते थे। उन्होंने बाक़ायदा शास्त्रीय संगीत की शिक्षा ली थी और वे सांस्कृतिक गतिविधियों में काफ़ी सक्रिय थे। हालाँकि हमारे गाँव के आसपास एक बहुत छोटा-सा क़स्बा था, पन्द्रह-बीस दुकानों का, जहाँ मेरे पिता का आयुर्वेदिक औषधालय था। बचपन में मैंने संगीत ख़ूब सुना। पिताजी रोज़ ही हारमोनियम पर सुनाते थे। तो यहाँ से मैं सुनता रहा। ख़ुद मैं कुछ सीख नहीं पाया। सिर्फ़ हारमोनियम पर उँगलियाँ चलाना सीख पाया, लेकिन संगीत के वो संस्कार मेरे भीतर रहे। उसके बाद जब मैं शहरों में आया, मैंने संगीत बहुत सुना ख़ासकर पहाड़ी राग-दुर्गा और पहाड़ में जो राग हैं- वहाँ पाँच सुरों के राग ज़्यादा होते हैं, जैसे सारंग है, दुर्गा है या दूसरे राग हैं। मेरे पिता अक्सर इन्हें गाया-गुनगुनाया करते थे। इन सबका असर मेरे मन पर बहुत पड़ा और फिर शहर में आकर भी संगीत को लेकर मेरे अन्दर एक छटपटाहट मौजूद रही। फिर बाद में काफ़ी बड़े-बड़े लोगों को सुना।

**तो इस तरह अवचेतन में बचपन में ही सुर का संस्कार आपके भीतर रच-बस गया। लेकिन उस समय कविता का संस्कार क्या परोक्ष रूप से कहीं और से आपको मिल रहा था? कविता के प्रति आपकी रुचि कैसे जागृत हुई?**

– असल में मेरे पिता गढ़वाली के भी कवि थे और उनकी तीन-चार पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं। उन्होंने खण्डकाव्य भी लिखा था- कन्या विक्रय की प्रथा पर, उसका नाम था- ''फ्यूंली और सत्यनारायण की कथा'', जो कि हमारे यहाँ सब जगह प्रचलित है, उन्होंने गढ़वाली भाषा में छन्दबद्ध अनुवाद किया था और उन्हीं छन्दों में अनुवाद किया था जिन छन्दों में वो मूल कथा

लिखी गयी है। उनको बहुत अच्छा छन्द ज्ञान था। मेरे दादा खुद भी साहित्य, ज्योतिष और वैद्यिकी माने आयुर्वेद के गहरे जानकार थे। उन्होंने भी गढ़वाली कहावतों का एक बड़ा संग्रह तैयार किया था। हमारे घर में बहुत-सी किताबें थीं, मुझे पढ़ने को मिलीं। संस्कृत का काफ़ी बोलबाला था। बचपन में मैंने बहुत सारी चीज़ें संस्कृत की पढ़ ली थीं इस तरह की। 'मेघदूत' या जयशंकर प्रसाद का 'आँसू' मैंने काफी छोटी उम्र में ही पढ़ लिये थे और कण्ठस्थ कर लिये थे।

**आपकी कविताओं को पढ़कर यह लगता है, कि आपको अपने लोकेल की गहरी समझ है। संगीत का भी एक गहरा संस्कार आपके यहाँ मौजूद है। उसी दौर में जबकि कविता बहुत ज़्यादा गद्यात्मक होने लगी थी, आपने संगीत आदि की बात करते हुए उसे नमी प्रदान की।**

– आपके सवाल में मुझे लगता है कि दो सवाल हैं। देखिए, बाहरी विचार की बहस इस अर्थ में बेमानी है कि बाहर से क्या आया, ये कहना बहुत मुश्किल है। प्याज़ बाहर से आया है, लीची बाहर से आयी है, चाय बाहर से आयी है, लेकिन आज हम यह नहीं कहते कि चाय बाहर से आयी है। ये सारी चीज़ें मुझे लगता है कि दुनिया का हिस्सा हैं, सभ्यता का हिस्सा हो चुकी हैं। जो चीज़ें सभ्यता का हिस्सा बन चुकी हैं, उन चीज़ों को ये नहीं कहा जा सकता कि ये बाहर से आयी हैं।

सवाल ये है, मान लीजिए, अगर रूस में ये इस तरह माना जाता है कि रूस में तो मार्क्सवाद बाहर से आया है, तो रूस में कभी क्रान्ति नहीं होती और मुझे लगता है कि कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिए मुझे लगता है कि जो विचार जन्म ले चुका है वो पूरी तरह मनुष्यता की धरोहर है। इसलिए बाहरी-भीतरी का कोई सवाल नहीं है। क्योंकि बाहरी-भीतरी वाली जो पॉलिटिक्स है वो बहुत ख़तरनाक है, उसके नतीजे बहुत ख़तरनाक हैं और जिनको हम आजकल देख रहे हैं हमारे अपने-अपने समाज में। संगीत का जहाँ तक सवाल है, मेरे ख़्याल से मेरी कविताओं में संगीत के माध्यम से भी एक सामाजिक सच्चाई की पड़ताल की गयी है। जो इम्प्रेशनिस्टिक कविताएँ हैं, संगीत के बारे में, वो शायद एक-दो कविताओं को छोड़कर राग दुर्गा वगैरह हैं वो इम्प्रेशनिस्टिक की उतनी हैं, लेकिन उसके अलावा जो हैं, उसमें किसी न किसी सामाजिक द्वन्द्व की, सामाजिक सच्चाई की पड़ताल करने की कोशिश है और दूसरा यह कि कोई जानबूझकर तो नहीं किया गया। संगीत बचपन में मेरे जीवन में काफ़ी रहा, इसलिए संगीत उसमें आ गया। मान लीजिये, बचपन में संगीत नहीं होता तो शायद संगीत नहीं आता।

**डबराल जी, कविता और संगीत की आपसदारी या कहें इनको लेकर हो रहे नए प्रयोगों के बारे में आपकी क्या है?**

– देखिए बात यह है, मुझे लगता है कि जो आपकी पुरानी कविता है, मसलन तुलसी की है, कबीर की है या सूरदास की है या भक्तिकाल की जितनी कविता है, बाक़ायदा संगीत में उनको ढाला गया है। संगीत के साँचे में उनको भेजा गया है। यानी वो एक विधा का दूसरी विधा में जाना था। सूरदास का पद मान लीजिये किसी राग में, बिलावल राग में प्रस्तुत किया गया। कबीर के जो पद हैं, उनका गुरुवाणी, गुरुग्रन्थ साहिब में बाक़ायदा रागों के साथ उल्लेख है। राग और ताल उसमें मिलते हैं- राग केदार और ताल। यानी उनको गाया गया। यह कहा जाता है कि गुरुग्रन्थ साहिब के दौर में, गुरुनानक के दौर में उन पदों का बाक़ायदा गायन हुआ और उसी के बाद उनका राग निर्धारण भी हुआ। उससे पहले ये उल्लेख नहीं मिलता है कि कबीर अपने पदों को गाते थे या नहीं गाते थे। ऐसा कोई उल्लेख नहीं है या जितने हमारे छन्द हैं वो सब गाये जाते थे, कुछ वैदिक छन्दों को छोड़कर, जैसे अनुष्टुप वगैरह-वगैरह।

**क्या संगीत आरोपित-सा लगता है आधुनिक कविता में?**

– मेरा कहना यह है कि वो एक छन्दमुक्त कविता है। उसके लिए कौन-सा संगीत उपयुक्त होगा, मुझे लगता है कि अभी इसको लेकर हल्का-फुल्का काम हुआ है। लेकिन शायद बहुत ज़्यादा काम किया जाना बाकी है। हमारे बड़े कवि रघुवीर सहाय ने काफ़ी काम किया था। उसके बाद नरेश सक्सेना ने थोड़ा-बहुत काम किया। लेकिन कोई बड़ा, गहरा और स्थायी काम हुआ नहीं है।

मेरे मन में आधुनिक कविता के संगीत की जो बात है, वो यही है कि उस कविता के भीतर से ही वो संगीत उपजेगा। मसलन, रघुवीर सहाय की एक कविता है- 'दे दिया जाता हूँ'। बहुत सुन्दर कविता है। बहुत ही सुन्दर है और वो मुझे बहुत प्रिय है। उसके साथ मैं कल्पना करता हूँ कि एक हल्का-सा सरोद बज रहा हो और वो सरोद आपकी ओर नहीं आ रहा हो, बल्कि आपसे दूर जा रहा हो। इस तरह का संगीत अगर हो,

तो मुझे लगता है कि वो उस कविता के साथ न्याय होगा। आधुनिक कविता का गायन कम से कम हो और उसका वाचन सबसे अधिक हो– संगीत के भीतर। ऐसी कौन–सी प्रविधि हो सकती है जो कविता के वाचन को सुरक्षित रख सके गायन में।

**बिल्कुल ठीक। आपकी बात से इत्तिफ़ाक़ रखते हुए मैं आपको बताना चाहूँगा कि जिस आईसेक्ट स्टूडियो में हम लोग बात कर रहे हैं, इसी आईसेक्ट स्टूडियो ने अपना एक अच्छा रूपक 'कविता–यात्रा' का गढ़ा और 20वीं सदी की कुछ श्रेष्ठ कविताओं को लेकर संतोष चौबे, राजेश जोशी, रामप्रकाश आदि मित्रों ने मिलकर एक चयन किया और 'कविता–यात्रा' को संगीतबद्ध कर दृश्य–श्रव्य के साथ प्रस्तुत करने का एक लंबा अभियान चलाया।**

– कोशिश ये है कि बुनियादी पाठ कविता का बना रहे, उसका अन्तर्निहित संगीत जो आप कह रहे हैं, जो मौलिकता के साथ आता है वो और उसके साथ कम्युनिकेटिव बनाने के लिए कि सम्प्रेषण का एक और नया धरातल तैयार हो। इसको लेकर कुछ प्रयोग किये हैं। लेकिन आप जो कह रहे हैं उसमें बहुत गहरे डूबने की और अभिनव प्रयोग की आवश्यकता तो बनी हुई है। बहुत सारे गायकों ने भी ये प्रयोग किये हैं। अच्छी कविताओं को चुना है।

आईसेक्ट का जो इस तरह का प्रयास है, यह बहुत ही अच्छी बात है अपने आप में। शब्द और संगीत, इसके रिश्ते के बारे में शायद और सोचा जाना चाहिए। लेकिन मैं यहाँ पर एक बात ये ज़रूर कहना चाहता हूँ कि वो पद जो गेय हैं, जब उनका गायन होता है तो यह देखा गया है, मेरे ख़्याल से अमीर ख़ाँ साहब और कुमार गन्धर्व, दो लोगों को छोड़कर बाकी जो गायन है, उसमें कभी भी शब्दों को, उनके अर्थों को प्रमुखता नहीं दी गयी। होता यह है कि 'कौन ठगवा नगरिया लूटल हो' जब हम कुमार गन्धर्व जी से सुनते हैं तो उसका अर्थ हमारे सामने खुलता है, वर्ड्स के अनेक स्तर हमारे सामने आते हैं और संगीत भी आता है। लेकिन जब कोई दूसरा गायक इसको गाता है तो वो अर्थ हमारी समझ में नहीं आता। क्योंकि वहाँ संगीत शब्दों पर हावी हो जाता है। तो ऐसा तरीक़ा निकाला जाये कि संगीत शब्दों पर हावी न हो, तो शायद मुझे लगता है कि कविता के लिए उपयुक्त संगीत होगा।

**साहित्यिक–सांस्कृतिक पत्रकारिता भी आपने बहुत लम्बे समय तक साधी है। इस वक्त परिदृश्य कैसा नज़र आता है?**

– देखिए, जहाँ तक अख़बारों का सवाल है, उसमें साहित्यिक पत्रकारिता तो रह नहीं गयी है। अख़बारों में वो सब तो लगभग ख़त्म ही हो गयी है। बहुत कम, इक्का–दुक्का, जो कुछ समीक्षाएँ देते हैं अख़बार, उसमें भी पब्लिक रिलेशनिंग ज़्यादा होती है। पब्लिक रिलेशनिंग जॉब ज़्यादा हैं। उसमें तारीफ़ें ही की जाती हैं। जबकि आलोचना का काम ये है और अच्छी साहित्यिक पत्रकारिता का काम ये है कि वो साहित्य की किसी कृति के बारे में यह बताये कि उसको हम कहाँ प्लेस कर रहे हैं? हमारी जो अपनी परम्परा है, उसमें इसकी जगह कहाँ पर बनती है, ये वो नहीं बताती है, तारीफ़ों से भरी हुई होती है और अगर समीक्षक आपसे नाराज़ हुआ तो निन्दा से भरी हुई होती है। लेकिन इस समय प्रतिमानों का संकट है। अख़बारों में उसकी जगह लगातार सिकुड़ती जा रही है। उसकी जगह कुछ आनुष्ठानिक जगह हो गयी है, रिचुअलिस्टिक जगह हो गयी है। मसलन 'मदर्स डे' पर आपको दिखाई देता है कि पाँच कविताएँ 'माँ' पर छपी हुई हैं या 'फादर्स डे' आता है तो दो–तीन कविताएँ 'पिता' पर छपी हुई होती हैं। इसी तरह 'चिल्ड्रन्स डे' आता है तो उस पर एक–दो कविताएँ 'बच्चों' पर मिल जाती हैं। ये आनुष्ठानिक मामला है– एकदम रिचुअलिस्टिक है। सचमुच की कोई चिन्ता हमारे मीडिया को नहीं है। चाहे इलेक्ट्रॉनिक मीडिया हो या प्रिंट मीडिया हो। साहित्यिक पत्रकारिता लगभग समाप्त हो गयी है। जब मैंने शुरू किया था, जब मैंने अख़बारों में पत्रकारिता शुरू की, उन दिनों हम लोग कम से कम यही मानते थे कि लोगों को साहित्य की उतनी ही ज़रूरत है जितनी कि खेलकूद की ज़रूरत है। अब शायद सोशल मीडिया पर ब्लॉग या इन पर साहित्यिक गतिविधि बढ़ रही है और मुझे लगता है कि यह एक अच्छी बात है। इसके माध्यम से कुछ अच्छी चीज़ें सामने आएँ, ये एक उम्मीद बनती है।

**और पत्रिकाओं को लेकर...?**

– पत्रिकाएँ इस समय हिन्दी में बहुत ज़्यादा हैं। इस समय हिन्दी में इतनी ज़्यादा पत्रिकाएँ हैं जितनी शायद कभी भी नहीं रहीं। इतनी पत्रिकाएँ उस समय भी नहीं रहीं, जब हिन्दी में लघु पत्रिका आन्दोलन चल रहा था– 71, 72, 73 के आसपास। पत्रिकाएँ इसलिए बहुत ज़्यादा हैं, क्योंकि विज्ञापन मिल जाते हैं। लेकिन

उनमें कोई ऐसा पर्सपेक्टिव नहीं दे पा रही हैं ये सारी पत्रिकाएँ साहित्य को और न उनके ज़रिये कोई नयी रचना सामने आ रही है, क्योंकि उनमें सम्पादकीय विवेक नज़र नहीं आता। वो अक्सर एक आलू के बोरे की तरह होती हैं जिसमें छोटे-बड़े सारे आलू भर दिये गये हैं।

**मंगलेश जी, आपने सोशल मीडिया की बात कही थी अभी। ये जो लगातार किताबें छप रही हैं, तमाम दूसरे विषयों पर भी काफ़ी कुछ इस समय दिखाई दे रहा है। लेकिन पाठकों तक जो रीच होना चाहिए हमारे साहित्यकारों की और विशेष रूप से मैं यंगर जनरेशन को कोट करके कहूँ, तो छपे हुए साहित्य को उस तक पहुँचने के लिए क्या विकल्प आप सुझाते हैं? लगता है कि किताबों की तरफ़ पाठकों का रुझान कम हुआ है, वो दूसरी तरह से पहुँचना चाहते हैं, दूसरे अनुशासनों या माध्यमों से गुज़र कर पहुँचना चाहते हैं, इत्यादि। आपको क्या लगता है?**

– दरअसल हिन्दी में कोई पाठक समाज नहीं है ठीक-ठीक, इतनी सारी किताबों के बावजूद और पचास करोड़ की आबादी के बारे में कहा जाता है कि वह हिन्दी पढ़ती है, बोलती है। हिन्दी एक बहुत बड़ी भाषा बन चुकी है, लेकिन उसकी साहित्यिक-सांस्कृतिक समृद्धि बहुत कम है। मुझे लगता है कि दूसरी भाषाओं के लेखक अपने समाज से ज़्यादा जुड़ा हुआ महसूस करते हैं अपने आपको, इसलिए कि वो लोगों को बिलाँग करते हैं। जिसे 'सेंस ऑफ बिलाँगिंग' कहते हैं, यहाँ हिन्दी में बहुत कम है।

मेरी एक किताब छपी है तो मुझे नहीं मालूम कि उसका पाठक कौन है। हालाँकि ये बात हर भाषा में है। ये तय करना मुश्किल है कि पाठक कौन हैं, लेकिन दूसरी भाषाओं में पाठक की एक अदृश्य उपस्थिति बनी रहती है, लेखक को ये एहसास बना रहता है कि दूसरा है जो मुझे पढ़ेगा या पढ़ रहा है- वो कौन है, उसको भले ही हम न जानते हों। हिन्दी में इस बात का कोई भरोसा नहीं है कि आपको कोई पढ़ेगा। इस तरह से। समकालीनता का अर्थ यही है कि आप उस काल में, जहाँ कोई दूसरा भी आपको देख रहा है। हिन्दी में इस बात का कोई भरोसा नहीं है। एक बात तो ये है।

दूसरी बात यह कि इसकी बहुत-सी वजहें हमारे हिन्दी समाज की निरक्षरता और निर्धनता में छिपी हुई हैं और दूसरी बड़ी वजह यह है कि किताबें बहुत महँगी हैं। प्रकाशकों को ज़रा भी इस बात से सरोकार नहीं है कि पाठकों तक ये किताब पहुँचे। मैं बहुत पहले से, पिछले बीस साल से, जो परिचित प्रकाशक हैं- उनसे यह कहता आ रहा था कि आप पेपर-बैक एडीशन लाइये। अब जाकर लोगों ने पेपर-बैक एडीशन लाने शुरू किये हैं। अब उनको ये लगा है, थोड़ी एक्टिविटी बढ़ी है। पुस्तक मेले बहुत होते हैं, सरकारी ख़रीद बहुत कम हो गयी है। तो जब तक किताबें जनसुलभ नहीं होंगी, तब तक किताबें सस्ती नहीं होंगी! अगर मेरी किताब का दाम तीन सौ रुपये है तो मैं ख़ुद अपनी किताब नहीं खरीद पाऊँगा। मुझे विदेशी लेखकों से इस बात को करने का कुछ अनुभव है, वो लोग आश्चर्य करते हैं। उन लोगों को यक़ीन नहीं होता है कि मेरी किताब की पाँच सौ प्रतियाँ चार साल में बिकती हैं। उनको लगता है कि आपका समाज कैसा है, वहाँ लोग पढ़ते नहीं हैं क्या?

**हमारे पुस्तकालय सन्नाटे फाँक रहे हैं जहाँ आसानी से चीजें उपलब्ध हैं। मुफ़्त में भी अगर किताब भेंट कर दी जाती है तो उसको भी पढ़ने का संस्कार लोगों में नहीं है। क्या बेचैनी है इस वक़्त में, जो उसको एकाग्र नहीं होने देना चाह रही है?**

– देखिए, हमारे यहाँ लोगों में पुस्तक पढ़ने का संस्कार नहीं है। दूसरा, साहित्य में और आम आदमी की जो दुनिया है उसके बीच में गैप बहुत बड़ा है और ये गैप कल्चरल ही नहीं है, ये एक पॉलिटिकल गैप है। इसकी पूरी एक पॉलिटिक्स है। इसकी पूरी एक राजनीति-सी है। राजनीति ये है, जो ब्रेख्त कहते थे न कि 'हंगरी मैन, गो टु द बुक, इट्स ए वीपन।'- भूखे आदमी, किताब की ओर जाओ, यह एक हथियार है।' ये स्थिति है, लेकिन यहाँ कहा जाता है कि भूखे आदमी को क्या मतलब है किताब से, उसको पहले रोटी चाहिए। रोटी तो चाहिए ही चाहिए, लेकिन उसको रोटी के अलावा किताब भी चाहिए। ये जो पूरी पॉलिटिक्स है, हमारे देश की जो एक भेड़चाल पूरी जारी है, इसकी पूरी कोशिश राजनीति करती आ रही है। और नहीं, तो क्या वजह है?

**पर यह है कि हिन्दी में इतना महत्वपूर्ण काम हुआ है संगीत को लेकर, जैसे उपन्यास की शक्ल में 'जलतरंग' में आया। ये तो बड़ी उपलब्धि है, क्योंकि इस तरह से व्यवस्थित काम बहुत कम मिलता है। ये एक बड़ी सुन्दर शुरूआत है और जिस तरह से समय हमारे सामने है, इसके प्रतिरोध के लिए ज़रूरी**

**है कि इन चीजों को आगे बढ़ाया जाये। क्योंकि कला जब तक मीडिएट नहीं करेगी- संस्कार, संस्कृति, इस तरह से तब तक रिच नहीं होगी। आज तमाम चीज़ों का जो विखण्डन है, आप उनका सामना नहीं कर सकते। इसलिए मुझे लगता है कि ये बहुत महत्तवपूर्ण काम है।**

– उपन्यास में तो ये है। प्रमाण है। आप संगीत के ज़रिये भी एक बड़ा प्रतिकार कर सकते हैं और ये उपन्यास प्रत्यक्ष है। अचानक मुझे अपनी कविता याद आ गयी– हालाँकि ये बड़बोलापन न हो तो मैं उल्लेख कर दूँ, क्योंकि सन्दर्भ वो है– मेरी एक छोटी–सी कविता है 'प्रतिकार'– 'जहाँ–तहाँ/ इधर–उधर/ चारों तरफ़/ जो कुछ भी लिखा था शोर की तरह/ उसे ही लिखता मैं संगीत की तरह।' इसका नाम भी 'प्रतिकार' है। तो प्रतिकार इस तरह भी होता है और इसकी बहुत ज़रूरत है।

● ● ●

**फ़िल्मों में छोटे-छोटे रोल मिलते रहे जिनसे लोगों ने मुझे पहचानना शुरू किया, पर कलाकार मन की संतुष्टि के लिये ख़ुदा ने कुछ अच्छे साथी जुटा दिये। मुंबई आकर जद्दोजहद के ज़बर्दस्त दौर में नसीरूद्दीन शाह, बेंजामिन गिलानी और मैंने इक रंगमंच मंडली स्थापित की 'मोटली' जिसके साथ मैं तक़रीबन दस बरस तक जुड़ा रहा... वाह... क्या दिन थे!**

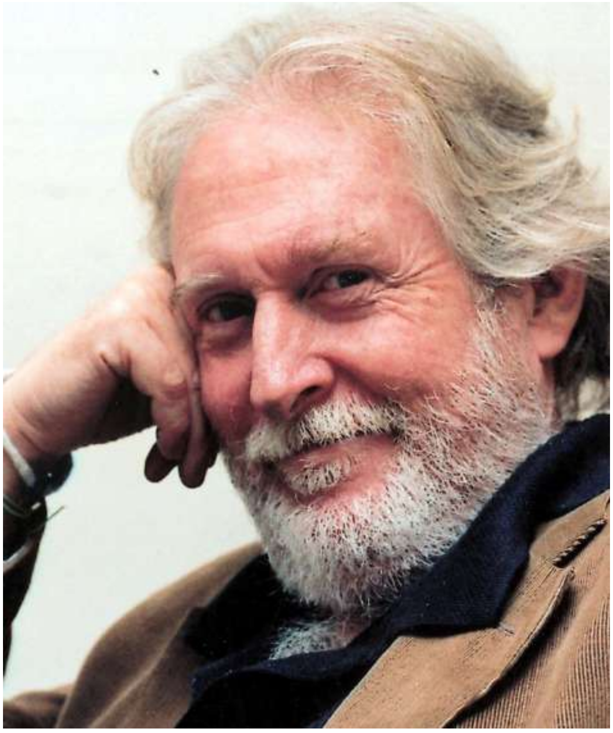

# सिनेमा हो या रंगमंच अभिनय ही कसौटी

टॉम आल्टर

**ममता :** पूरा हिंदुस्तान जानता है सिने अभिनेता टॉम आल्टर के भीतर इक रंगमंच कलाकार बेचैनी से छुपा हुआ है, उजागर भी हुआ है, आपकी प्राथमिकता इस बारे में क्या कहना चाहेंगे, सिनेमा या स्टेज... और क्यों?

**टॉम :** मैं प्राथमिकता में सिर्फ़ अभिनय को रखता हूँ। फ़िल्में मेरी पहचान का ज़रिया बनीं, रंगमंच मेरी संतुष्टि है, पर अभिनय दोनों जगह है। मैं इस 'सिर्फ़ अभिनय' पर केंद्रित करता हूँ। दरअसल जब पुणे एफ.टी.आई में भी हमें टेलीविजन और सिनेमा में एक्टिंग के लिये तैयार किया जा रहा था तब हम स्वत: ही रंगमंच के लिये तैयार हो गये बल्कि वहाँ से निकलने के बाद मोटेली नाट्य संस्था से ही हमने अभिनय शुरू किया था।

**शुरूआत कैसे हुई इस सफ़र की....?**

– शुरुआत हुई स्कूल के ज़माने से...। हमारी हिन्दी टीचर थी सरोज लारेंस, जो शादी के बाद सरोज कपाड़िया बनी। लेकिन नाम बदलने से वो बिल्कुल नहीं बदली, उतनी ही सुंदर, उतनी ही अच्छी, उतनी ही समझदार। उनकी क्लास में हर साल 15 अगस्त के अवसर पर हम बच्चे इक नाटक प्रस्तुत किया करते थे, हिन्दी में... और हमारी सुंदर समझदार और अच्छी टीचर हमें पूरा एक महीना देती थी नाटक तैयार करने के लिये कितने मज़ेदार दिन थे वो... हम नाटक ख़ुद लिखते थे, कास्ट्यूम तैयार करते थे, रिहर्सल करते थे और 15 अगस्त को वो नाटक पूरे जोश और हाँ... थोड़े से डर के साथ भी... पेश किया करते थे...। ये सिलसिला चला कुछ चार बरस तक, और पहला नाटक था 'शकुंतला'। जिसमें मैंने ख़ुद शकुंतला का रोल किया... (ठहाका) और बस... इसी दौरान मुझे रंगमंच से, और नाटक से, और ज़ुबान से, अभिनय से मोहब्बत हो गई... और हाँ.... टीचर से भी... आज तक दोनों मुहब्बतें क़ायम हैं...।

...फिर हाई स्कूल के ज़माने में, मेरी ख़ुशनसीबी रही, कि मैंने दो साल तक मिस्टर एंड मिसेज़ फ्रेंच ब्राउन के साथ रंगमंच की बारीकियों को सीखा और चार अलग-अलग नाटकों में हिस्से लिये... उन दोनों की जोड़ी लाजवाब थी। मि. ब्राउन रंगमंच की तमाम तैयारियों की देखभाल करते थे- सैट्स, प्रकाश व्यवस्था, प्रॉप्स वगैरह-वगैरह और श्रीमती ब्राउन अभिनय और ज़ुबान और मेकअप की तरफ ध्यान देती थी। ब्राउन साहब का मिज़ाज ज़रा सख़्त था और उनकी बेग़म उतनी ही नरम। हाल ही, जब मेरे स्कूल-वुडस्टाक स्कूल, मसूरी (आँखों के दिये जोर से चमके) ने मुझे ''डिस्टिंग्यूइश्ड अल्यूमनस अवॉर्ड' से सम्मानित किया तो मैंने वो सम्मान मि. एंड मिसेज़ ब्राउन को समर्पित किया...।

फिर कॉलेज, जहाँ मैं ज़्यादा अरसे तक रह नहीं पाया, लेकिन एक बहुत ज़बरदस्त नाटक में ज़रूर हिस्सा लिया, जिसका तर्जुमा लैटिन ज़ुबान से अंग्रेजी ज़ुबान में एरिक सहगल साहब ने किया- वो एरिक सहगल जिसने बहुत मशहूर नॉवेल लिखी थी- 'अ लव स्टोरी' जिस पर उतनी ही कामयाब फ़िल्म बनी और जिसकी दूसरी कहानी पर हमारी मशहूर और मक़बूल फ़िल्म 'मासूम' भी थी...।

**अभिनय रंगमंचीय हो या फ़िल्मी पर्दे पर, इक उत्सुकता आपके रंग रूप को लेकर पाठकों व दर्शकों के मन में रहती है कि इस सफ़र में आपने बाक़ायदा कैसे और कब प्रवेश किया...?**

- आप मुझे विषय से गुमराह कर रही हैं... पर चूँकि आपका कहना है अभिनय तो अभिनय है फिर वो चाहे पर्दे पर हो या फिर मंच पर...। तो उसके बाद मेरा रुझान फ़िल्मों की तरफ़ हुआ और मैंने दो साल तक फ़िल्म अभिनय का शऊर हासिल किया अपने गुरु श्री रोशन तनेजा जी से जो फ़िल्म एंड टेलीविजन इंस्टीट्यूट पुणे में प्रोफ़ेसर थे। तनेजा साहब बेशक हमें तैयार कर रहे थे फ़िल्मों के लिये, लेकिन वो तालीम रंगमंच के लिये उतनी ही फ़ायदेमंद साबित हुई... यानि जो भी करो उसमें हक़ीक़त का रंग नज़र आना चाहिये वो तुम्हारी रूह के भीतर से निकलना चाहिये...।

**ज़ाहिर सी बात है मुंबई आकर एकदम फ़िल्मों की लाइन तो नहीं लग गई होगी... और फिर रंगमंच की जो कसक आपके भीतर रही उसे शांत करने के लिये आपने क्या किया था...?**

- सही फ़रमाया आपने... फ़िल्मों में छोटे-छोटे रोल मिलते रहे जिनसे लोगों ने मुझे पहचानना शुरू किया, पर कलाकार मन की संतुष्टि के लिये ख़ुदा ने कुछ अच्छे साथी जुटा दिये। मुंबई आकर जद्दोजहद के ज़बर्दस्त दौर में नसीरूद्दीन शाह, बेंजामिन गिलानी और मैंने इक रंगमंच मंडली स्थापित की 'मोटली' जिसके साथ मैं तक़रीबन दस बरस तक जुड़ा रहा... वाह... क्या दिन थे! (आँखें मूँद कर फिर खो गये... अंतराल...) नसीर और बेंजी जैसे दोस्त उनके जैसे कलाकारों से कितना कुछ सीखने को मिला... रंगमंच पर, और आम ज़िंदगी में थी। हमारे तमाम नाटक अंग्रेज़ी में थे- पहला नाटक था 'द ज़ू स्टोरी' नसीर और मैं। वाह... फिर हमारा सबसे प्रसिद्ध और लोकप्रिय नाटक 'वेटिंग फॉर गोडोट' इसमें जो नसीर और बेंजी ने काम किया, वो वाक़ई तारीख़ी काम था फिर ''द बीअर, द टाइपिस्ट, द डम्ब वेटर, जुलिअस कीसर'' के कुछ मख़सूस हिस्से 'द डॉक ब्रीफ' और 'आर्म्स एण्ड द मेन'। इसी बीच मैंने एक और ख़ूबसूरत नाटक में हिस्सा लिया 'टॉम एण्ड विव' जो सुप्रसिद्ध अंग्रेजी शायर टी.एस. इलियट पर लिखा गया था- क्योंकि इलियट मेरे मनपसंद शायर हैं इसलिये उनका किरदार निभाने में इक ख़ास लुत्फ़ आया। ये नाटक मैंने किया 'Eunice-D-Souza' के साथ जो ख़ुद भी बहुत जानी मानी शायरा हैं...

उस दौरान मैंने गीत पटेल साहिब के लिये ज़बर्दस्त नाटक 'मिस्टर बेहरम' में भी हिस्सा लिया, जो कि महरूमा बेग़म ने निर्देशित किया। गीत पटेल इक कमाल के शायर हैं। अंग्रेजी और उतने ही कमाल के पेंटर भी... और इंसान भी... दोस्त भी...। लगे हाथ हमने शेक्सपीयर को भी आज़माया इक मख़सूस पेशकश में, जिसको उनवान दिया गया 'एज यू लव इट' जिसमें मैंने 'Taming of the Shrew' जैसे मशहूर नाटक के खास हिस्सों में टामर का किरदार निभाया, बेहद मज़ा आया... फिर मोटली से रुख़सत लेना पड़ा... मजबूरन... लेकिन रंगमंच से नहीं...।

**फिर तो इक ख़ालीपन आ गया होगा आख़िर दस बरस का साथ...?**

- जी नहीं, तीन नाटक एक के बाद एक नसीब में आये तीनों लाजवाब 'The Blood knot' जो साउथ अफ़्रीका के सुप्रसिद्ध नाटककार 'Athol Fugard' ने लिखा- ये मैंने शिव कुमार सुब्रमण्यम के साथ किया। फिर 'Larins Sahib' जिसमें मैंने हेनेरी लॉरेंस का किरदार निभाया और जो नाटक 'Edin Borough' के मशहूर 'Fringe Festival' में पेश किया गया और गिरीश कर्नाड का 'तुग़लक़' जो हमने अंग्रेजी में प्रस्तुत किया विक्रम

कपाड़िया के निर्देशन में...। इस दौरान तब्दीली के तौर पर मैंने शुभा खोटे जी के साथ दो हिन्दी नाटक भी किये जो बिल्कुल कमर्शियल थे और बेहद मज़ेदार भी...।

**'त्रिसंगा' का शोर बहुत सुना आख़िर ये ख़्याल आपके ज़हन में कैसे आया...?**

– जिस क्रम से मैं आपको बता रहा हूँ वह इस फ़िल्म की रील की तरह मेरे दिलो-दिमाग में चल रहा है... 2000 के आसपास, इक नया ज़माना, इक नया दौर मेरे लिये शुरू हुआ रंगमंच की दुनिया में। मेरे मन में 'इदराक भाटी' साहिब की दस सुंदर-सुंदर नज़्में गूँज रही हैं, जो उन्होंने इस नाचीज़ को दी थीं रिकॉर्ड करने के लिये इक दिन। 2000 की शुरुआत थी तब मैंने वो नज़्म पेश की थी, अपने दोस्त उदय चंद्रा की क्लासिकल हिंदुस्तानी आवाज़ की जुगलबंदी में- बहुत मज़ा आया। फिर हौले-हौले चलते-चलते वो नज़्में जुड़ गईं डॉ. भारत वाटवानी की कुछ अंग्रेज़ी नज़्मों के साथ। फिर इक अंग्रेज़ी 'Solo Piece, Father and Son' के साथ जिसका तसव्वुर मैंने ख़ुद किया था। फिर मैथिलीशरण गुप्त की 'जयद्रथ वध' के साथ, जो मेरे अज़ीज़ दोस्त चंद्रमोहन खन्ना पेश करते हैं, फिर स्वामी विवेकानंद की मशहूर तक़दीर के साथ जो उन्होंने 1893 में शिकागो में दी थी 'First Congress of world religiouns' के जलसे में। फिर 'इंजील-मुक़द्दस' की पहली पाँच आयतें जुड़ गईं। फिर 'Bob Dylan' का इक गाना, और शिबानी टिब्बरवाला की इक अंग्रेज़ी नज़्म... और (गहरी व सुकून की) साँस और इन तमाम तोहफ़ों से बना इक बहुत ही सुंदर तोहफ़ा- (Trisanga)- उदय चंद्रा, चंद्रमोहन खन्ना और मैं तीन यार, तीन ज़ुबान उर्दू, अंग्रेज़ी, हिन्दी। तीन मन और इक यादगार पेशकश जिसका पहला शो मल्लिका और मृणालिनी साराभाई के अति सुंदर रंगमंच "नटरानी" पर जो अहमदाबाद में क़ायम है... ये बात 2001 की है अम्मा यानि मृणालिनी जी ने ही इस पेशकश को वो नाम दिया- (त्रिसंगा) और तब से आज तक उस त्रिवेणी में इक ऐसी सरस्वती बह रही थी जिसका कोई किनारा ही है ना कोई अंत, मैं बस बताता जा रहा हूँ... डूबता जा रहा हूँ....

इस लंबे 'त्रिसंगा' के बाद इक अजीब सी ख़ामोशी छा गई और अंतराल भी। मैंने उन्हें उसमें डूबने के लिये छोड़ दिया बाक़ी बातें... बिना दिन तय किये छोड़ दी गईं। कलाकार को डूबे रहना भी ज़रूरी है, ताकि वो उबर भी सके...

पूरे इक हफ़्ते बाद मेरे सामने मौलाना साहब नये अंदाज़ में अपने सफ़र का ज़िक्र करने बैठे थे। ना कोई काग़ज़, ना तस्वीर, बस लग रहा था उन्हें दिल और दिमाग में बसे एलबम के पन्ने और टेप आवाज़ों को सुनाना है अपनी ज़ुबान से...।

**आपके 'मौलाना' की बहुत धूम है, डॉ. सईद साहब से आपका जुड़ना कब और कैसे हुआ...?**

– डॉ. एम. सईद आलिम साहिब ने 'त्रिसंगा' देखा और फिर उनके साथ इक सिलसिला शुरू हुआ जो मरते दम तक कायम रहेगा, मौलाना आज़ाद, के.एल. सहगल, मिर्ज़ा ग़ालिब, राजा नाहर सिंह, ग़ालिब के ख़त, बाबर की औलाद, इक कलाकार को और क्या चाहिये... क्या चाहिये....।

(सईद साहिब का कहना है जब मैं 'मौलाना' बना रहा था मैंने टॉम को देवनागरी में संवाद लिख कर दिये सोचा उन्हें उर्दू कैसे समझ आयेगी। सात दिन की रिहर्सल के बाद मैंने पूछा कि आपको डायलॉग्स समझने में कोई परेशानी तो नहीं आई वो मुस्कुरा कर बोले आप अगर स्क्रिप्ट मुझे उर्दू में लिख कर दें तो बेहतर होगा। इक समय में प्राण साहब, प्रेम चोपड़ा, देव आनंद ही उर्दू स्क्रिप्ट पढ़ते थे पर मेरा काम आसान हो गया)

**कुछ दिल को छू लेने वाले नाटक और डायरेक्टर्स जो आपके भावनात्मक पहलू को छूने में क़ामयाब रहे...?**

– मुझे एम.एफ. हुसैन का किरदार निभाने का मौक़ा दिया नादिरा बब्बर जी ने 'पेसिंल से ब्रश तक' में। औरंगज़ेब बना रंजीत Hoskote के लिखित नाटक "The Last Annals of Alanig" में जो एवान पटेल ने निर्देशित किया। फिर भगवान, गॉड, ख़ुदा बना अनुराग कश्यप के लिखित नाटक When God Said Cheers में जो सायरस दस्तूर की पेशकश की। क्या ज़बरदस्त नाटक है ये भी...। फिर इक नाक़ामयाब स्क्रिप्ट राइटर बना भारत दणोलकर के 'Got to be Aishwarya' में इक नाक़ामयाब बाप और पति भी वाह क्या मज़ा आया। फिर अम्मा के साथ पेश किये गये वो ख़ुतूत (पत्र) जो गाँधीजी ने और सरोजिनी नायडू ने इक-दूसरे को 34 साल तक लिखे थे- "The Mahatma and the poetess" मेरी की सबसे अज़ीज़ कोशिश- मृणालिनी जी के साथ रंगमंच पर काम करना- मेरी ज़िंदगी सफल हुई...। फिर शिवानी टिब्बरवाला के दो बेहतरीन नाटकों में काम कर रहा

हूँ... Whatever U Say Deewj ''The Laboratory'' जीवन के अर्थ तक जाना, जीवन की सच्चाई, तक, शिवानी और उनके तसव्वुर से सीखा...। फिर कुछ अर्से तक हमने टैगोर को छेड़ा उनके अंतिम प्रकाशन 'शिशिर कविता' में, उसमें मैं हिल गया अंदर तक... ये अंग्रेज़ी में था। नंदिनी और अरिंदम के साथ दो हिन्दी में नाटक पेश किये जो अंग्रेजी में थे कर्ण, कुंती संवाद और अभिसार। नृत्य, संगीत और ड्रामे के अलग-अलग लेकिन मिले हुये सुरों में। कमाल थे जो हमने लद्दाख में शो पेश किये वो बहुत ही ख़ास थे। नंदिनी जी के साथ दो और ऑपेरा/ड्रामा भी करता हूँ- 'गंगा' और 'भक्ति'- नृत्य कविता ड्रामा, अल्फाज़, गीत कल्पना, तसव्वुर, उनके साथ हमने 'Macbeth' का भी अजीबो ग़रीब शो किया स्कूल के बच्चों के साथ (2011 में) अब वो 'दुर्गा' की योजना बना रही हैं वाह.... (फिर खो गये) और 'चित्रांगदा' की कोई सीमा नहीं है वाक़ई... कोई अंत नहीं...। इसी बीच मैं भूल रहा हूँ मैंने 'एल्केमिस्ट' महान नाटक Paulo Coecho की मशहूर किताब पर अंग्रेज़ी में किया था जिसमें मैं एल केमिस्ट बना था।

दो और नाटक रह गये इक मैंने मराठी में Waiting for godot (गोडो) आज से तीन साल पहले अंग्रेज़ी में किया था। दिव्या अरोरा के साथ वो बचपन से व्हीलचेयर पर हैं लेकिन बावजूद इसके वो लिखती हैं, फ्रेंच से अंग्रेज़ी में अनुवाद किया अभिनय भी किया, मुख्य भूमिका उन्हीं की थी और प्रोडक्शन डायरेक्शन भी। उसमें मैंने ''लकी'' का रोल किया था बहुत मज़ा आया। फिर अभी कुछ समय पहले ''The Melody of love'' किया जिसमें प्रियंका चोपड़ा ने साथ में कंपेयरिंग की थी। 'अंधायुग' जिसमें मैंने धृतराष्ट्र का रोल किया था जिसके निर्देशक अर्शिया सत्तार जी थे। हाँ, एक प्ले और याद आया (बीच-बीच में छूट-छूट कर पीछे जाने की आदत है उनकी) 'ब्लेक विद इक्वल' (2002-03) में श्री विक्रम कपाड़िया के साथ किया था।

**हमने ये भी सुना है कि एक ही वक़्त में आपने तीन महान हस्तियों गाँधी, .**
**ग़ालिब और टैगोर को भी जीया।**

- तो फिर वापस ग़ालिब की तरफ़ चलें.... 'इंतिहा'... की तरफ़। इस नाचीज़ ने उनकी दस ग़ज़लों का तर्जुमा अंग्रेजी में किया है- ये हिमाकत की है, लेकिन क्या करें- ये हम 'इंतेहा' में पेश करते हैं जूही बब्बर के साथ, उर्दू और अंग्रेजी-बारी-बारी साथ में जैज और फ्लूट का संगीत भी है और कभी-कभी उदय चंद्रा उनकी मख़सूस आवाज़ में गाने की मेहरबानी करते हैं....।

'इंतेहा' से प्रभावित होकर इस नाचीज़ ने इक और शाम तैयार की है- हमराही- जिसमें ग़ालिब, टैगोर और गाँधी का कलाम इक साथ पेश किया जाता है। ग़ालिब की चंद ग़ज़लें पढ़ी जाती हैं मेरी आवाज़ में और गाई जाती हैं उदय की आवाज़ में फिर नंदिनी जी टैगोर की पाँच नज़्में पेश करती हैं बंगला में जिनका अंग्रेजी तर्जुमा मैं पेश करता हूँ। नंदिनी जी बोलती भी हैं, गाती हैं और फिर अंत में मैं गाँधीजी की तक़रीरें जो वो अपनी 'प्रार्थना सभा' के दौरान किया करते थे। पहली तक़रीर अगस्त 15, 1947 की प्रार्थना सभा से और दूसरी जनवरी 29, 1948 की प्रार्थना सभा से इक अंग्रेज़ी में, इक हिन्दी में क्या शाम बनती है... क्या समाँ बनता है.... तारीख़ गूँज उठती है... वाह...। इस शायरी और संगीत के सिलसिले में इक शाम अंग्रेज़ी में भी पेश की जाती है टी.एस. इलियट, डेलन थॉमस और बॉब डेलन की नज्में, जैज, बाँसुरी की जुगलबंदी में बड़ा मज़ा आता है।

डॉ. स्वाति पीरामल के संग दो शामें इक में मैं अर्जुन बनता हूँ और भगवत गीता के विशेष भाग पेश किये जाते हैं अंग्रेज़ी में लेकिन श्लोक संस्कृत में- वो भी पंडित जसराज की आवाज़ में वाह- और फिर इक शाम जब मुम्बई की तारीख़ दुहराई जाती है जिसमें मैं मार्को पोलो बनता हूँ- ये पेशकश हमने इक बार 'बॉम्बे हार्बर' में प्रस्तुत की थी जहाज़ में क्या कहना...। फिर मुझे इक नाटक सूझा फ्रेगिल हिन्दी और अंग्रेज़ी में बाप बेटी का रिश्ता पहली चाहत का रिश्ता- बहुत ही बारीक बहुत ही फ्रेगिल- ये मैंने श्वेता केसवानी और मोना अंबेगांवकर के साथ किया था।

फिर अभी हाल ही में एक और नाटक सोचा और लिखा- 'चलो इक बार फिर' से लुशिन दुबे के साथ। दो अजनबी मिलते हैं और गानों के ज़रिये, ख़ामोशी के ज़रिये इक दूसरे को जानने लगते हैं चाहने लगते हैं, मैं इस कोशिश से बहुत खुश हूँ। ...और हाल ही में इक मलयालम शार्ट स्टोरी पर आधारित इक नाटक में हिस्सा लिया 'मी ग्रांडेड हेड एन एलीफेंट' अंग्रेज़ी में मरहूम कलाकार अमजद ख़ान की बेटी 'अहलाम' के साथ इक बहुत ही ज़बर्दस्त कहानी और उतना ही ज़बर्दस्त नाटक।

**और अब आगे क्या...?**

– और अब तैयारियाँ चल रही हैं चार और नाटकों के लिये।

मरहूम बादल सरकार का 'बीसवीं शताब्दी' जिसमें मैं केशियर और आइंस्टीन के किरदार निभाने की कोशिश कर रहा हूँ ये नाटक राम गोपाल बजाज ने बंगला से हिन्दी में तर्जुमा किया है। अवान पटेल के साथ अंग्रेजी नाटक 'कॉपेनहेगन' जिसमें मैं नेल बोर बनता हूँ जिसका बहुत बड़ा योगदान था 'एटम बम' के बनाने में। ये नाटक परमाणु ताबाही की जानिब हमारा ध्यान खींचता है। 'टैगोरनामा'– मल्लिका साराभाई के साथ, जिसमें टैगोर बनने की ख़ुशक़िस्मती मुझे हासिल हो रही है। ये इक ऑपेरा होगा जिसमें नृत्य और संगीत और कविता, ड्रामा को मिलकर तैयार किया है। असग़र वजाहत साहिब का ताज़ा नाटक जिसमें ये नाचीज़ गाँधी बनने की कोशिश करेगा। बस इस नाटक के बारे में मैं इस वक़्त और कुछ नहीं कहूँगा।

**पद्मश्री टॉम आल्टर, गाँधी, टैगोर, आइंस्टीन, चेशायर, अर्जुन, कर्ण, बुद्ध, खुदा, मौलाना, ग़ालिब, ज़फ़र, हेनरी लॉरेंस, एम.एफ. हुसैन, मार्कोपोलो, औरंगज़ेब, गंगा-भक्ति, तारीख़, मज़हब, सियासत, हाल, शायरी, नृत्य, संगीत, ड्रामा, उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी, बंगाली, भोपाल, पुणे, बीकानेर, दिल्ली, मसूरी, देहरादून, मुम्बई, हैदराबाद, कलकत्ता, बैंगलोर, राँची, हिंदुस्तान, पाकिस्तान, लद्दाख, यू.एस.ए., इंग्लैंड, बांग्लादेश, कुवैत, दुबई अब कौन सा ऐसा चरित्र जो निभाने की आपको दिली तमन्ना है, कौन सा शहर...??**

– शहर तो जो भी मिलते जायें। पर गाँधीजी का रोल करने की बड़ी तमन्ना थी जो अधूरी रही अब तक।

● ● ●

**हमारे यहाँ दायित्वबोध था जो जीवन से भी जुड़ा था इसलिए वो नाटक में भी दिखता था। हमारा मनोरंजन पूरी भारतीय को समाविष्ट करता था। इसलिए बोस्टन के एलीट क्लास से लेकर बलिया और लंदन से लेकर कोपागंज के गाँव तक मैं अपने दायित्वबोध के साथ मनोरंजन की कोशिश अपनी प्रस्तुतियों में करता हूँ।**

# जिसके पास जुनून नहीं, वो कलाबाज़ है, कलाकार नहीं

शेखर सेन

'मै रायपुर के बंगाली परिवार में पैदा हुआ। घर में ही संगीत का माहौल था। फिर बचपन में छुट्टियों में कोलकाता जाना होता था। हमारा पूरा परिवार एक साथ थिएटर देखने जाता था। उस समय मई-जून में होने वाले नाटकों के लिए जनवरी में ही टिकट बिकना शुरू हो जाते थे और यहाँ तक कि शो उसी समय फुल हो जाते थे। उस दौरान वहाँ उत्पल दत्त, शंभू मित्रा, अजितेश बंधोपाध्याय, अरुण मुखर्जी आदि के कई नाटक देखे जिनमें से अरुण मुखर्जी का नाटक 'जगन्नाथ' तो स्मृति में अब तक अंकित है। मुझे लगता है मेरी कल्पना की पराकाष्ठा थी उन नाटकों में।

फिर रायपुर में हबीब तनवीर साहब की एक वर्कशॉप में हिस्सा लिया। जयंत देशमुख, अशोक मिश्रा आदि कई मित्र उस वर्कशॉप में शामिल हुए। उन्होंने 'भगवदज्जुकम्' की रिहर्सल करवाई थी। शो शुरू होने के ठीक पहले तक किसी को ये नहीं मालूम था कि नाटक में कौन किस पात्र को निभाने वाला है। सभी को पूरा नाटक और किरदार याद थे। सिर्फ़ वो जानते थे कि किससे कौन-सा पात्र करवाना है। हबीब साहब की उस वर्कशॉप में समझ आया कि किसी नाटक में एक मिनट के पात्र की भी क्या वैल्यू है? भले ही कोई नौकर का किरदार हो मगर उस एक मिनट के लिए तो मंच पर संवाद बोलता वो नौकर ही नायक होता है। इसी बात ने आगे चलकर मेरे लिए अपने रास्ते खोजने और अपनी ज़मीन ख़ुद तैयार करने में अहम भूमिका निभाई। संगीत में भी ऐसा ही होता है भले ही आप संगत कर रहे हैं लेकिन अगर आपको पूरी सिम्फनी पता है तो आप अपना पार्ट प्ले करते हुए चमत्कार कर सकते हैं। हबीब साहब की वर्कशॉप के बाद ही सही मायने में नाटक समझ आया। उसके पहले रायपुर में हम दोस्तों ने मिलकर पी.टी.सी. यानि पीपुल थिएटर कम्बाइन बनाया था, जैसे इप्टा वैसे ही पी.टी.सी.! हालांकि शायद ही नाटक का मतलब पता हो मगर उत्साह तो ज़रूर था। पहले हर शहर में

नाटक के लिए पागल लोग हुआ करते थे और तब नाटक सुविधाभोगी भी नहीं था, मतलब कि जुनून था कुछ करने का, सीखने का।''

**तो फिर मुंबई कैसे आना हुआ? और थिएटर से जुड़ना कैसे हुआ?**

– ''मुंबई तो मैं संगीत निर्देशक बनने आया था। शुरूआत फ़िल्मों से की, मगर फ़िल्में शुरू होकर बंद हो गयीं। पहला मक़सद तो यही था कि घर कैसे चलाएँ? तो गाना शुरू किया। फिर सोचा कि कुछ सार्थक गाया जाए। शुरू से ही हिन्दी साहित्य में रुचि थी और गाता तो था ही। पहला कार्यक्रम तैयार किया 'दुष्यंत ने कहा था'। ये सन् 84 की बात है। भाईदास हॉल में कार्यक्रम हुआ। कमलेश्वर जी ने संचालन किया था। मेरे पास तो उन्हें देने के लिए पैसे भी नहीं थे। कार्यक्रम सम्पन्न हुआ, बेहद सफल हुआ और सभी ने मुक्त कंठ से सराहना भी की। मगर उसके बाद कोई काम नहीं मिला, लेकिन उस कार्यक्रम के बाद मैं हर साल इसी तरह के कार्यक्रम देने लगा। कोई भी एक विषय चुनता और उस पर साल भर खूब शोध करता, धुन बनाता और प्रस्तुति देता। सन् 89 तक मैं 'मध्य युगीन काव्य', जिसमें धनानंद, रसखान, भूषण जैसे कवियों के छप्पय, सवैया आदि थे के अलावा, 'मीरा से महादेव तक', 'पाकिस्तान का हिन्दी काव्य' जैसी प्रस्तुतियाँ दे चुका था।

इन सभी का अद्‌भुत प्रतिसाद मिला। हालाँकि प्रशंसा खूब मिली मगर हिन्दी समाज की एक कमज़ोरी है कि उसे स्तर के कार्यक्रम मुफ़्त में चाहिए। तो मेरे भी सारे कार्यक्रम निःशुल्क ही होते थे। शादी हो चुकी थी, आजीविका के लिए कुछ तो करना था। फिर मेरी धर्मपत्नी ने मुझसे कहा कि मैं काम तो अच्छा कर रहा हूँ मगर इसी काम के साथ कुछ नाम हो जाए तो मेरे काम की वैल्यू रहेगी। तो अब तक तो हाल ये था कि घर जला के तमाशा देखने वाली स्थिति थी। इसी बीच भक्ति संगीत और इसी तरह के कुछ ग़ैर-फ़िल्मी कामों में कैसेट, एल्बम और सीडी निकल गए थे। सिनेमा से मोहभंग हो चुका था। मैं बाज़ार में तो था पर बिकाऊ नहीं था। हालाँकि शुरुआत में सभी गायकों को किसी और गायक के गीत गाने ही पड़ते हैं मगर अपने कम्पोजीशन्स और कार्यक्रमों के मुझे दो फ़ायदे हुए। पहला तो ये कि मेरी अपनी बनाई हुई रचनाओं का एक भंडार बन गया और दूसरा मेरी अनसुनी रचनाएँ इस तरह मैने लोगों को सुना दीं। फिर इन्हीं प्रस्तुतियों के कारण देश-विदेश में शो होने लगे। अमेरिका, कनाडा, हॉलैंड, इंग्लैंड आदि देशों में प्रस्तुतियाँ दीं।''

**मैंने टोकते हुए अपना नौसीखियापन उन पर एक सवाल के साथ ज़ाहिर किया, मतलब ये कि आप चल निकले?**

– हाँ वो तो था मगर व्याकुलता अब भी बनी हुई थी। होता ये था कि अपनी प्रस्तुतियों पर मैं बहुत शोध करके, मेहनत के साथ डूबकर गाता था। शब्दों या भावनाओं को समझकर गाता था पर मुझे लगता कि सुनने वालों तक मैं कविता या भजन का विचार संप्रेषित नहीं कर पा रहा हूँ। यानि जिसे मैं डूबकर और समझ कर गा रहा हूँ वो दरअसल सुनने वाले को बस छूकर निकल जाता है। तो फिर सोचा कि इसे और प्रभावकारी कैसे बनाया जाए? तब विचार आया कि अगर किसी कथा में नाटक के माध्यम से गीत को सही जगह पिरो कर, गूँथ कर संगीत के साथ पेश किया जाए तो शायद लोगों को ज़्यादा अर्थों से अर्थ समझ में आएगा। अब क्योंकि बचपन से रामचरित मानस की कई-कई चौपाइयाँ याद थीं, और उन्हें गाता भी था। उपन्यास 'मानस का हंस' भी पढ़ चुका था तो 'तुलसीदास' लिखना शुरू किया। कुछ एक-तिहाई कथा-गायन लिख चुका तो वही मैने धर्मवीर भारती जी को सुनाया और उन्हें कहा कि बाक़ी तो मेरे दिमाग़ में बिल्कुल फिट है। उन्होंने कहा कि जब तक काग़ज़ पर पूरा नहीं उतरता तब तक मैं नहीं मानूँगा। तो फिर लिखना शुरू किया पूरा लिखने के बाद उन्हें दिखाया। मुझे लगता था कि किसी अच्छे अभिनेता यानी कि अन्नू कपूर या रघुवीर यादव से बोलूँगा कि आप इसे कर दो। भारती जी ने कहा कि ये तो सबसे ज़्यादा तुम्हारे ही क़रीब है, तुम ख़ुद ही क्यों नहीं इसे करते! तुम ही करो। मैं थोड़ा घबराया, एक तो संगीतमय नाटक, हिन्दी साहित्य और फिर 'तुलसीदास' का पात्र जिसे कि नाटक में तो कहीं पर भी प्रस्तुत नहीं किया गया था। यानि मेरे लिए सब कुछ माइनस था। मैने सोचा करते हैं। फिर चूँकि मैंने ही लिखा था, संगीत और गायन भी मेरा, अभिनय भी मेरा और निर्देशन भी तो जब करने के लिए मित्रों को बताया तो उन्होंने कहा कि सभी तुम ही कर रहे हो तो एक आईना भी रख लो यार। दर्शक भी तुम ही बन जाना। ख़ैर, शुरूआत हुई और जैसे डिज़ास्टर ख़र्च ज़्यादा और आमदनी तो नहीं के बराबर। साल भर में जितनी भी जमा पूँजी थी वो सब ख़त्म हो चुकी थी। इस बीच घर का जो सामान बेच सकता था वो बेच चुका था, फिर भी लगा रहा और काम करता रहा। इसके कारण एक चीज़ जो अच्छी हुई वो ये कि मेरा एक दर्शक वर्ग तैयार हुआ। फिर 'कबीर' किया। हालाँकि शुरू में लोगों

ने इसे सांप्रदायिक कहा और मुझे कोई भी सभागार नहीं मिला पर फिर जब शो हुआ तो सूफ़ीवाद को पसंद करने वाले लोग प्रसन्न हुए। हर वर्ग के लोग इसे देखने आए। मुंबई में 30-40 पारसी समुदाय के लोग आते। मुस्लिम भी होते और क्रिश्चियन भी। मुझे याद है 'विवेकानंद' के भी शो को देखने 200 'नन' आई थीं, अपनी वेशभूषा में। फिर यही प्रस्तुतियाँ वेस्ट इंडीज, सूरीनाम, शारजाह, अफ्रीका, सिंगापुर आदि कई देशों में भी पसंद की गईं।

'कबीर' सफल होने के बाद मुझे अच्छा ख़ासा पैसा भी मिलने लगा। मैं तब यही सोचता था कि हर आदमी अपना एक मूल्यांकन करता है। मुझे लगा अपनी योग्यता से अधिक मुझे मिल रहा है। होता यही है कि इस कारण एक तरह का घमंड आने लगता है पर मैं ये सोचता कि शायद मुझे अच्छे उद्देश्य के लिए पैसा मिल रहा है तो मैं वहाँ भी इन प्रस्तुतियों को देने लगा जहाँ नाटक अब तक पहुँचा नहीं है। मेरे ये प्रदर्शन निशुल्क होते। 'काशी से मगहर' जो कबीर की शायद अंतिम यात्रा थी मैंने वहाँ के हर गाँव में अपने खर्च से 'कबीर' की प्रस्तुतियाँ दीं। गाँव में न तो सुविधाएँ होतीं, न मंच, न ही कोई अन्य तकनीक। सब कुछ खुद ही करना पड़ता। मुझे ख़ुशी है कि आज तक बगैर स्पोन्सरशिप के मैंने ये प्रस्तुतियाँ दी हैं। फिर 2004 में 'विवेकानंद' किया। अब तक एक पात्रीय नाटक करके मैं अपने दर्शक और जगह बना चुका था।

**आपकी एक और प्रस्तुति है 'साहब', ये कौन सा चरित्र है? क्या कोई संत है या फिर..**

- मेरे इस सवाल को बीच में ही काटकर शेखर कहने लगे। 'दरअसल 'साहब' कोई एक किरदार नहीं बल्कि हम सबके अंदर रहने वाला किरदार है और इसका कथानक पिता-पुत्र की कहानी पर आधारित है। दरअसल हमारे समाज में पिता की भूमिका की अनदेखी की गयी है या उन्हें एक 'विलेन' जैसा ही समझा गया है और अक्सर होता यही है कि 'नायक' की भूमिका में पुत्र ही होता है। पिता के साथ मतभेद को हमेशा उनकी नकारात्मकता में लिया गया। मगर जब पिता दूर चले जाते हैं तो उनकी अनुपस्थिति का अहसास होता है और उम्र के साथ आप पिता की तरह ही व्यवहार करने लगते हैं। तो मैंने पिता-पुत्र के सम्बन्धों पर एक कथानक लिखा जिसमें मुझे लगा कि समाज में आई इस टूटन के बारे में कुछ बात करूँ और उसे प्रस्तुत करूँ। फिर नाम के साथ एक समस्या होती है कि लोग नाम के साथ एक पूर्वाग्रह से जुड़े होते हैं, जैसे विवेकानंद से शिकागो की छवि सबसे पहले सामने आती है, तुलसीदास से संत की आदि इसलिए मैंने इसे 'साहब' का नाम दिया जो हर आदमी के साथ है। तो अब तक मैं अपने नाटक की कुल 751 प्रस्तुतियाँ दे चुका हूँ। अगले महीने मुंबई में 'सूरदास' की जो प्रस्तुति होगी 752 वीं प्रस्तुति होगी मेरी।

**मैंने भारतीय परिवेश और कला के सम्बन्धों की पड़ताल और इस पर उनका नज़रिया जानना चाहा उन्होंने मुझसे प्रतिप्रश्न किया कला क्या है?**

- फिर कुछ गंभीर होकर शेखर कहने लगे- ''दरअसल पश्चिमी शिक्षा के कारण हमारे जीवन के मूल अर्थ बदल गए। विद्वान हमारे यहाँ किसी एक विषय के नहीं थे। गाँव में जो बुज़ुर्ग होते थे वो व्यावहारिक रूप में ज्योतिष शास्त्र, भूगोल, गणित आदि सब विधाओं के जानकार होते थे। ये 'विशेषज्ञ' की अवधारणा ही पश्चिमी है और यही हमारे यहाँ कलाओं और कलाकार के संदर्भ में देखा जाता है कि अगर कोई अभिनेता है तो गायक नहीं हो सकता, लेखक है तो अभिनय नहीं कर सकता। गायन के संदर्भ में लें, मेरे हिसाब से गायन में अगर अभिनय नहीं है तो गायन निष्प्राण है। लता जी जब 6 साल की पद्मिनी कोल्हापुरे के लिए 'यशोमती मैया से बोले नंदलाला' गाती हैं तो आप बताइये कि वो क्या गाते वक़्त अभिनय नहीं कर रही हैं? अब मुझे कोई कहता है कि यार तुम बहुत अच्छा अभिनय करते हो तो मैं कहता हूँ वास्तव में हम सब अभिनेता ही हैं और अपने-अपने जीवन में अपनी-अपनी भूमिकाओं के साथ अभिनय करते हैं। चाहे पुत्र के रूप में या पति के रूप में या पिता या मित्र के रूप में। बस किसी का अभिनय दिखाई देता है और किसी का नहीं। हम अभिनय के बिना तो जीवन जी ही नहीं सकते।

मतलब यह कि कला जीवन में ही है और हमारे यहाँ कला जीवन से जुड़ी है। अब मनोरंजन को ही लें। पहले भारत में पूरा परिवार मेला घूमने जाता था या नाटक नौटंकी देखने जाता था। अब जो हो रहा है सिनेमा में या मनोरंजन के नाम पर जो भी जिसे आप परिवार के साथ या बच्चों के साथ नहीं देख पा रहे तो मेरी नज़र में वो मनोरंजन नहीं है। बिना परिवार के अकेले मनोरंजन कैसा? तो कम से कम अपने नाटकों के लिए मैं तो यही कहता हूँ जिसे सब लोग सबके साथ देख सकें। इसी के संदर्भ में यह भी कि पहले हमारे यहाँ दायित्वबोध था जो जीवन से भी जुड़ा था इसलिए वो नाटक में भी दिखता था। हमारा मनोरंजन पूरी भारतीयता

को समाविष्ट करता था। इसलिए बोस्टन के एलीट क्लास से लेकर बलिया और लंदन से लेकर कोपागंज के गाँव तक मैं अपने दायित्वबोध के साथ मनोरंजन की कोशिश अपनी प्रस्तुतियों में करता हूँ।

**बातचीत के गूढ़ होने की दिशा में मैंने उनसे भारतीय संस्कृति और नाट्य विधा के संबंध में जानने की कोशिश की।**

– वे कहने लगे– ''नाटक मेरे लिए विश्व की सबसे पुरानी ललित कला है। मैं इसे आदि कला मानता हूँ, जो अपने आप में पूर्ण है। आप देखिए कि आज से क़रीब दो हज़ार साल पहले नाट्यशास्त्र में लिखा गया और शास्त्र तभी लिखा जाता है जब कोई चीज़ पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी हो। मैं तो संगीत को भी नाटक का ही अंश मानता हूँ। बिना संगीत का नाटक भी पश्चिम की अवधारणा है। अब आप ही बताइये हमारे यहाँ सोलह संस्कारों से लेकर लोक की हर अनुभूति के लिए गीत हैं, जन्म से लेकर मृत्यु तक यानि उल्लास से लेकर शोक तक गीत–संगीत हमारी परंपरा में है। यहाँ तक कि हमारे भगवानों की कल्पना भी हम वगैर वाद्य–संगीत के नहीं करते। संगीत की देवी सरस्वती, शंकर जी के हाथ में डमरू तो नारद जी के हाथ में वीणा। अगर आज के पेशेवर समाज से थोड़ा हटकर सोचें तो यह कि संगीत या कलाएं ईश्वर की आराधना के लिए हैं। हमारे यहाँ नाद और शब्द को ब्रह्म माना गया है। मेरे लिए तो नाट्यकर्मी भरत मुनि का प्रतिनिधि है। मैं भी यही मानता हूँ कि अलग–अलग समय में लोग अपनी–अपनी तरह से एक बात कहते हैं क्योंकि जीवन में नया तो कुछ भी नहीं सब अच्छा पहले ही लिखा जा चुका है, कहा जा चुका है। मैं भी कोई नयी बात नहीं कह रहा हूँ पर इस तरीक़े से कह रहा हूँ यानी कि बस कलेवर नया है।

नाटक के संबंध में ये कि मेरे हिसाब से नाटककार को 'वाङ्गेयकार' होना चाहिए, जो लिख सके, संगीत की रचना कर सके, तर्ज़ बना सके, गाए और इस तरह अपनी बात कह सके। यानि पराश्रित न रहे। नाटक को भी ऐसा ही होना चाहिए, उसे अपने पाँव पर ही जनता तक पहुँचना चाहिए। फिर हमारी परंपरा में भी यही है पंडवानी से लेकर बाउल और नाचा से लेकर कीर्तन तक जिसमें सभी लोग सब काम करते हैं। मुझे यही लगता है क्योंकि जब तक हमारी कला जीवन से जुझे भी लोग भी जुड़े थे। आज नाटक जीवन से नहीं है। इसलिए लोग सिनेमा देखते है। मगर सच ये भी है कि लोग नाटक देखना चाहते हैं और ये बात उन लोगों से बेहतर कोई नहीं जानता जिन्हें एक बार नाटक का नशा चढ़ गया वो उसी में रम गए, जैसे हबीब साहब, कारंत जी, सत्यदेव दुबे आदि।''

**तब कला या कलाकार की पूर्णता क्या है या किसमें है?**

– मैंने जोड़ा। उन्होंने प्रतिप्रश्न किया आप बताइये आज से 800 साल पहले भारत का बादशाह कौन था। मैंने अपना ज्ञान उन पर लादने की कोशिश की, कि शायद मुग़ल। बहुत ही सहज होकर उन्होंने कहा, 'आज से आठ सौ साल पहले अमीर ख़ुसरो बादशाह थे, फिर कबीर, सूर, तुलसी, ग़ालिब जैसे लोगों ने राज किया और उससे भी पहले वो लोग जो अनाम हैं मगर जो अजंता में चित्र बना चुके हैं। यानी कि आज तक जिंदा है।'' ....कुछ याद करके शेखर कहने लगे– ''कहीं पढ़ा था कि एक पुस्तक की उम्र किसी इमारत से भी ज़्यादा होती है। कॉमर्स के आने से और पश्चिमी सभ्यता के कारण रिकॉर्ड नंबर रैंकिंग जैसी चीज़ें बाज़ार में चलन में आ गयीं। सच पूछिये तो भगवान ने सभी को सब कुछ दिया है, जो काम मैं कर सकता हूँ चाहे वो परिवार का ही क्यों न हो तो वो मेरे अलावा कोई भी नहीं कर सकता है। मतलब यह कि ईश्वर के हिसाब से हम सब नंबर वन हैं। ये हमारा दुर्भाग्य है कि देने वाले ने सब दिया मगर हम उसका उपयोग ही नहीं कर रहे। हम जगजीत सिंह 'जैसा' गाना चाहते हैं या पिकासो 'जैसी' पेंटिंग बनाना चाहते हैं। बाज़ारवाद के कारण सोना पीतल बनकर खुश है। लोग बिकना चाहते हैं और खुश होना चाहते हैं। हमारी यही कमी है कि हम पाना चाहते है और उसके लिए खोना कुछ भी नहीं चाहते। अगर खोने की तैयारी नहीं तो पाना उपलब्ध नहीं है। अगर आपके पास खोने को नहीं है तो वो आदर्श स्थिति नहीं है। कला 'जानमारी' है, जीते जी मरने की तैयारी। और अगर आपके पास जुनून नहीं है फिर मेरे हिसाब से ये कलाबाज़ है, कलाकार नहीं।

**घड़ी में रात के दस बज चुके थे, अंतिम सवाल मैंने पूछा बात-बात पर अतीत हो क्यों?**

– हँसकर कहने लगे, ''धनुष पर जब तीर चढ़ाते हैं तो प्रत्यंचा खींच कर उसे छोड़ा जाता है, हमारे आगे बढ़ने के सारे रास्ते अतीत से है, और आगे बढ़ना है तो अतीत में जाना ही होगा।'' थोड़ा सा मुस्कुराए और कहने लगे, ''तो बस हुआ मेरा ज्ञान, अब खाना भी बनाना है, श्रीमती जी मायके गयी है।''

● ● ●

**माइकल एंजेलो, लियानार्डो द विंची, वॉन गाग, पिकासो जैसे मनीषियों के मूल चित्रों को देखा, महसूस किया। उनके निवास स्थानों, गाँवों, क़स्बों की यात्राएँ मैंने कीं। ये यात्राएँ और यहाँ के अनुभव मेरी डायरियों का हिस्सा है। कोई अनुभव शब्द में, तो कोई रेखांकन की शक्ल में। कभी कैमरे से अपने अनुभव को क़ैद किया है। ये अनुभव ही कालांतर में मेरे चित्रों के रूप में सामने आए।**

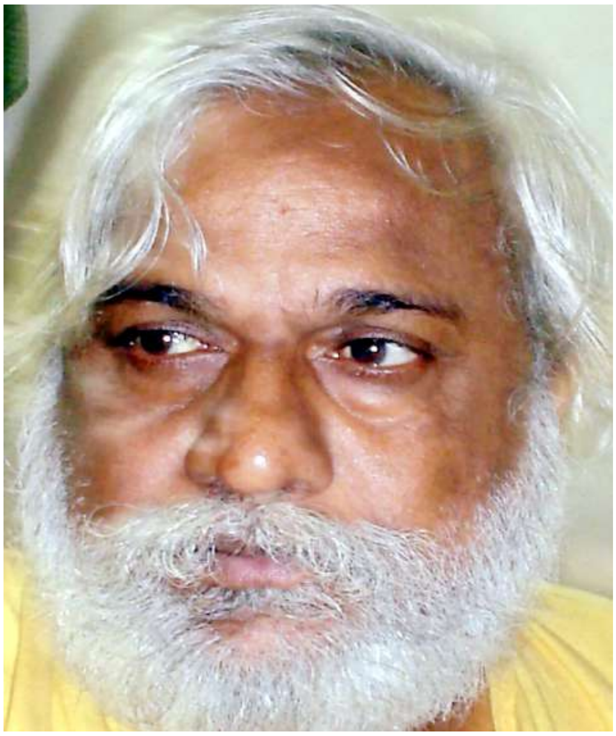

प्रमोद गणपत्ये

# माँ की याद दिलाते मेरे चित्र

**पंकज शुक्ला:** रंगों से नाता कैसे जुड़ा? क्या बचपन से ही चित्रकारी का आपको शौक़ रहा है?

**प्रमोद गणपत्ये:** मालवा के राजगढ़ और ग्वालियर में बचपन बीता। फिर उज्जैन आ गया। देवास, इंदौर आता-जाता रहा। उन्हीं दिनों दीवारों पर कोयले से आड़ी-टेढ़ी रेखाएँ खींचते हुए कब चित्रकारी शुरू हो गई, पता ही नहीं चला। जीवन ने मुझे सीखने के बहुत मौक़े दिए। देश-विदेशों में ख़ूब घूमा। ये अनुभव रह-रह कर मेरे चित्रों में दर्ज होते हैं।

**लोग अमूमन बाहर नहीं जाते मालवा से फिर आप दिल्ली तक कैसे पहुँचे और फिर वहीं के होकर रह गए, क्यों?**

- (हँसते हुए) हाँ, यह तो है। मालवा को छोड़ना हर किसी के लिए सम्भव नहीं है। मैंने भी कहाँ छोड़ा मालवा अब तो साल में दो-तीन बार उज्जैन आ जाता हूँ। कई-कई दिन ठहरता हूँ और अपनी माटी से जुड़े होने का सुख उठाता हूँ। (थोड़ा गंभीर होते हुए) असल में दिल्ली तो पहचान बनाने गया था। लेकिन वहाँ स्थापित होना आसान न था। काफ़ी पापड़ बेलने पड़े। लेकिन इस दौरान मिले अनुभव आगे बहुत काम आए।

**जब चित्रकारी ही लक्ष्य था तो फिर म्यूज़िकोलॉजी को क्यों चुना? क्या इसके बाद आगे का सफ़र कुछ आसान हुआ?**

- कई लोगों से मिली सलाह और अपने ज्ञान को देखते हुए म्यूज़िकोलॉजी में स्नातकोत्तर के लिए महाराजा सयाजी विश्वविद्यालय बड़ोदरा चला गया। यह भारतीय इतिहास को समझने का समय था। दो साल बाद फिर दिल्ली चला आया। कुछ अस्थायी काम के बाद राष्ट्रीय संग्रहालय में क्यूरेटर बना। यहाँ न केवल देश-विदेश की कला, संस्कृति और इतिहास के रिश्ते को समझा कि इस समझ ने चित्रकार के रूप में मेरे अनुभव को और गहरा किया।

**तो क्या आप शुरू से ही मूर्त चित्र ही बनाते रहे हैं?**

– शुरुआत में अमूर्त चित्रकारी भी की आरम्भिक चित्रों में ग्रह-नक्षत्रों के लिए तब रंगों का प्रयोग कर बाद हस्तियों के अंतर्जगत को टटोला। इन अमूर्त चित्रों के नाम राजकपूर, कुमार गंधर्व और सत्यजीत रे थे।

**लेकिन अमूर्तन कला यात्रा का समय बहुत कम रहा, ऐसा क्यों?**

– केनवास पर अमूर्त गढ़ ज़रूर रहा था लेकिन मन में तो मालवा बसा था। यहाँ के लुभावने दृश्य थे। मुझे लगा कि जो मैं केनवास पर रच रहा हूँ और जो जीवन मेरे आसपास बिखरा पड़ा है, जिस प्रकृति ने मुझे स्वयं को गढ़ा है, उसमें कोई साम्य ही नहीं है। बस तभी से हमारे जीवन से जुड़े प्रसंगों को उकेरना शुरू कर दिया।

**आमतौर पर मॉडल एक परफेक्ट फिगर की स्त्री होती है लेकिन आपके रचना संसार की मॉडल तो मोटी स्त्री है। एक आम घरेलू महिला। ऐसा क्यों और इन पर क्या प्रतिक्रियाएँ मिलती है?**

– मैंने जब मालवा को अपने केनवास पर उतारने का निर्णय किया तो यहाँ के फिगर्स को ही तो व्यक्त करूँगा ना। जिसे दुनिया मोटी स्त्री के रूप में देख रही है। असल में यह मालवा में हमारे आसपास की महिला है जो परिवार का ध्यान भी रख रही है, छोटा-मोटा व्यापार भी कर रही है। इन किरदारों को देख कर लोगों को अपनी प्रेमिका नहीं, माँ याद आती है। तभी तो प्रदर्शनियों में कई लोगों ने व्यक्तिगत रूप से आकर मुझे धन्यवाद दिया।

**डायरी लिखना आपकी आदत है, क्या ये डायरियाँ कभी प्रकाशित होंगी?**

– मैंने अपनी नौकरी के सिलसिले में कई यात्राएँ की हैं। यूनान, रोम, इजिप्ट के अद्वितीय शिल्प ने लुभाया तो पेरिस, सिडनी, न्यूयार्क, बर्लिन, अमस्टर्डम के संग्रहालयों ने चकित किया है। माइकल एंजेलो, लियानार्डो द विंची, वॉन गाग, पिकासो जैसे मनीषियों के मूल चित्रों को देखा, महसूस किया। उनके निवास स्थानों, गाँवों, क़स्बों की यात्राएँ कीं। यह सब इन पुरोधाओं के कला संसार को समझने का जतन था। ये यात्राएँ और यहाँ के अनुभव मेरी डायरियों का हिस्सा हैं। कोई अनुभव शब्द में, तो कोई रेखांकन की शक्ल में। कभी कैमरे से अपने अनुभव को क़ैद किया है। ये अनुभव ही कालांतर में मेरे चित्रों के रूप में सामने आए।

**आपने कई माध्यमों में स्वयं को व्यक्त किया है, फिर तो आप कविताएँ भी लिखते होंगे?**

– मैं कविताओं का प्रेमी हूँ लेकिन जितना अच्छा श्रोता हूँ, उतना अच्छा लिख नहीं पाता। फिर भी कुछ कविताएँ लिखी हैं। ये कविताएँ मेरी विभिन्न देशों की यात्राओं से मिले अनुभव की बयानी ही मानी जानी चाहिए।

**कुछ पंक्तियाँ याद आ रही हों तो हमसे साझा कीजिए।**

– एथेंस घूमते हुए एक कविता लिखी थी। इसी की कुछ पंक्तियाँ सुन लीजिए–

मैं सोलहवीं सदी का भटका हुआ पात्र हूँ
यूँ ही इस शहर में घूम रहा हूँ
माइकल एंजेलो के हाथ हूँ
जो इन पत्थरों को टटोलता हूँ
चर्च की दीवार पर बना चित्र हूँ
जिनमें विंची ने रंग भर थे।

● ● ●

**फ़िल्में ही समाज को बना रही हैं और फ़िल्में ही समाज बिगाड़ रही हैं। इतनी सारी फ़िल्मों में हीरोचित कृत्य को क्यों समाज के लोग स्वीकार नहीं करते और विलेन-खलनायक के कृत्य को क्यों स्वीकार कर रहे हैं? उस फ़िल्म में बोली गयी अच्छी भाषा स्वीकार नहीं की जा रही लेकिन गाली स्वीकार की जा रही है तो दोष फ़िल्म का?**

# प्रतिबिम्ब देखकर बिम्ब सुधारें

आशुतोष राणा

**विनय उपाध्याय:** जिस वक़्त में हम जी रहे हैं, उसे किस तरह रेखांकित करेंगे?

**आशुतोष राणा:** हम सबकी एक प्रकृति और प्रवृत्ति होती है कि हम अक्सर अपने बीते हुए समय को बड़ा स्वर्णिम और वर्तमान समय को बड़ा संकटपूर्ण मानते हैं। आने वाले समय के प्रति हम घोर चिन्ता से भरे होते हैं। भारत सोने की चिड़िया हुआ करता था, अब वर्तमान में बड़ी विकट स्थितियाँ हैं और आने वाले समय में बड़ा संकट है साहब। लेकिन मैं इसको संकट के रूप में नहीं मानता। मैं इसको चुनौती के रूप में मानता हूँ कि हर समय की अपनी संस्कृति होती है। संस्कृति का समय नहीं होता। जब समय बदलता है, समय की चाल बदलती है, वातावरण बदलता है तो उस चीज़ के बारे में लोगों के दृष्टिकोण बदलते हैं। दृष्टिकोणों के बदलने का अर्थ ये नहीं होता कि आने वाले समय में हम संकट में हैं।

मेरे दादाजी बहुत कमाल के थे। घर का जो दरवाज़ा है उसकी जो आज टूटी हुई सी चौखट है, ये दादाजी ने लगवायी थी और वो उसको झाँसी से लेकर आये थे, उनको लक्ष्मीबाई ने दी थी। अब ये दरवाज़ा टूट चुका है, दरक गया है, अगर मैंने ये चौखट नहीं बदली तो मेरा पूरा का पूरा घर गिर जायेगा और मैं अपनी सिर्फ़ इस ज़िद्द के चक्कर में, उस चौखट के प्रति सिर्फ़ अतीत भाव से भरा रहूँ, मुझे लगता है कि मुझसे उस समय अगर कोई बदलने वाला आदमी बात करेगा तो वह कहेगा कि ये बाग़ी हैं। इनको संस्कृति और सभ्यता की क़द्र नहीं है और जो नहीं बदलने वाला है उनके पक्ष में कुछ लोग खड़े हो जायेंगे कि नहीं ये बिल्कुल संस्कृति और सभ्यता के रक्षक हैं। मेरा यह मानना है कि समय के साथ चीज़ों को बदलने का मतलब ध्वस्त होना नहीं होता। बदलने का मतलब संकट नहीं होता।

**असहमति बहुत स्वाभाविक चीज़ है पर उसके साथ अशिष्टता का घालमेल हो जाता है। ये वो दौर है जहाँ असहमतियों को लेकर विद्रोह का अजीब वातावरण है?**

– हम आज के दौर में अशिष्टता को असहमति मान बैठे हैं और असहमति को अशिष्टता। मेरा यह मानना है कि शिष्टतापूर्वक असहमति अधिक कल्याणकारी होती है एक अशिष्टतापूर्वक

की गयी सहमति के। मैं आपसे कह दूँ कि 'आदरणीय विनय जी मेरा इस विषय पर एक भिन्न दृष्टिकोण है, मैं आपके दृष्टिकोण पर विचार अवश्य करूँगा, लेकिन मेरी अपनी मान्यताएँ हैं, मेरे अपने सत्य हैं। मुझे उम्मीद है मैं आपके सत्य का आदर करता हूँ लेकिन आप भी मेरे सत्य का आदर करेंगे। मैं आपसे असहमत हूँ।' आप मेरे मित्र हो जायेंगे। असहमत होते हुए भी आप मेरे मित्र हो जायेंगे। लेकिन हो क्या रहा है कि अशिष्टता को हमने असहमति मान लिया और असहमति को हमने अशिष्टता मान लिया। आप क्या बोल रहे हैं, इससे अधिक महत्वपूर्ण होता है कि आप कैसे बोल रहे हैं।

**सांस्कृतिक शुचिता यानी संस्कृति से जुड़ी मूल्यगत आदर्श बातें आज बहुधा नई नस्ल को स्वीकार नहीं। अजीब विचलन है....।**

– हमारे बुज़ुर्गों का तो हम धन्यवाद मानें कि उन्होंने हमें बहुत अच्छा परिवेश दिया। लेकिन क्या मैं अपने बच्चों को वह परिवेश, वह स्थिति– परिस्थिति दे पाऊँगा? निश्चित रूप से मेरा जीवन अपने बच्चों के लिए या तो चेतावनी हो सकता है या उदाहरण। या तो वार्निंग हो सकता है या एग्जाम्पल। तो हमारा प्रयास है कि हम उसको उदाहरण के रूप में बच्चों के सामने पेश करें और हम और आप ये कह सकते हैं कि हम वाहक हैं संस्कृति के या हम वाहक हैं किसी कृति के। लेकिन संस्कृति हो, सभ्यता हो, ये तमाम चीज़ें अपने वाहकों को ढूँढ़ ही लेते हैं। इनकी शुचिता को हम बरक़रार रखें, इस मुग़ालते को मैं नहीं पालता। मेरा यह मानना है कि इनकी शुचिता मुझे बरक़रार रखे हुए है। तभी आज के दौर में भी आप प्रांजल भाषा बोलने के पक्षधर हैं। नहीं तो किसने रोका है आपको तुर्की बोलने में? हमको मुम्बई में किसने रोका है अंग्रेज़ी बोलने में? जैसी मन लगाकर हमने हिन्दी सीखी है वैसी मन लगाकर हम अंग्रेजी सीख लेंगे। जब हम तमिल, तेलुगु के डॉयलॉग बोल सकते हैं तो अंग्रेज़ी नहीं बोल सकते? किसने रोका है? किसी ने नहीं रोका।

**आप फ़िल्मों के संसार से वाबस्ता हैं। अक्सर सिनेमा के पुराने दौर की दुहाई दी जाती है। उसे नए सिनेमा के समानांतर बेहतर आँका जाता है। आपकी राय?**

– अब हम ये कहें कि पुरानी पटकथाएँ क्या सबकी सब अच्छी थीं? नहीं। फ़िल्म साल में हज़ार बनती थीं। अगर हम और आप ये कहें तो हम सिनेमा करने वाले और आप सिनेमा देखने वाले दस श्रेष्ठ फ़िल्मों के नाम न गिना पायेंगे कि ऐसी फ़िल्म बनना चाहिए। साल में हज़ार फ़िल्में बनती थीं तब भी दस और पन्द्रह फ़िल्में ही अच्छी की श्रेणी में गिनी जाती थीं। ये हो सकता है कि उस समय सौ फ़िल्में अगर बन रही हैं तो उसमें से तीस फ़िल्में बड़ी अच्छी हों। दस प्रतिशत ऊपर–नीचे हो सकता है, लेकिन उस दौर के रसिक हम थे। अब आज के बच्चों को ये पता नहीं कि क्या पसन्द आ रहा है? मतलब हम 'सबरी के बेर' खिलाने की प्रक्रिया में हैं कि मीठा मुझे लगा तो आपको लगना चाहिए।

क्या कारण है जो संगीत हमारे शोर को शान्त करता था, आज वही संगीत हमारे शोर का कारण हो गया। उसके बाद भी चल रहा है। संगीत को भी हमने क्या मान लिया! अब ये मौसम या मिज़ाज के जैसे हो गया है। पहले संगीत के माध्यम से हम अपना मिज़ाज बदल देते थे, अब आज की तारीख़ में हमने संगीत को ही मिज़ाज बना दिया है। इसकी शुरूआत हमारे और आपके दौर में हो गयी थी– बिनाका गीतमाला से जो पायदान तय करती थी। गीतों में आप पायदान बनाने लगेंगे, ये ठीक नहीं। हर गीत की अपनी लहर है, हर गीत की अपनी बहक है, हर चीज़ की अपनी एक निजता है। जब तुलनात्मक अध्ययन करके उसको पायदान बनाने लगोगे तो ये स्थितियाँ कुछ और होंगी।

मुझे यह लगता है कि हर दौर का अपना सिनेमा है। कभी किसी दौर के सिनेमा की तुलना किसी दौर के सिनेमा से नहीं करना चाहिए– अगर वो सृजन है तो। किसी दौर की पत्रकारिता की तुलना किसी दौर के पत्रकार से नहीं करना चाहिए। भाई, उस समय नन्ददुलारे वाजपेयी जी पत्रकार हुआ करते थे, अब आप हम पूछ लें कि भैया आप तो नन्ददुलारे वाजपेयी जी नहीं हैं? कहाँ, कैसे सवाल पूछ रहे हो? तो हर सिनेमा की अपनी निजता होती है, अपना स्वरूप होता है और स्वरूपों में कहीं तुलनात्मक अध्ययन जब हम और आप करने लगते हैं, फिर उस चलती हुई प्रक्रिया को कहीं हम रोक रहे होते हैं, मेरा ऐसा मानना है।

**एक फ़िल्म आयी थी 'मुल्क'। चर्चा बहुत हो नहीं पायी उसकी लेकिन उसमें व्यक्ति और समाज का नया मनोविज्ञान था। क्या कहती है यह फ़िल्म?**

– हमारी फ़िल्म 'मुल्क' जिसमें गंभीर विषय की चर्चा है। एक कृत्य किसी एक व्यक्ति ने किया और पता लगा कि उस दुष्कृत्य का ज़िम्मेदार उसके सम्पूर्ण परिवार को मान लिया गया और ये साबित करने का

प्रयास किया गया कि नहीं, एक व्यक्ति के द्वारा किया गया दुष्कृत्य परिवार की जानकारी में हो रहा है, परिवार की सहभागिता से हो रहा है, इसका सम्पूर्ण परिवार इस दुष्कृत्य में शामिल है। ये क्या है? हम भी बैठे-बैठे अपने घरों में, आवश्यक नहीं कि हम चिल्लाकर बात करें, लेकिन बहुत शालीनता से भी हम अपनी कट्टरपंथी मानसिकता को घोषित करते रहते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि हर चिल्लाने वाला, हर आक्रामक व्यक्ति दोषी हो और यह भी आवश्यक नहीं है कि हर चुप रहने वाला शान्त व्यक्ति निर्दोष हो। क्योंकि आइडियालॉजी और मानसिकता दो अलग-अलग चीज़ें हैं। मेन्टालिटी एंड आइडियालॉजी- विचारधारा और मानसिकता। दो समान विचारधारा के लोग अलग-अलग मानसिकता के हो सकते हैं और दो अलग-अलग मानसिकताओं के लोग समान विचारधारा के हो सकते हैं। ये जो द्वन्द्व है, ये मानसिकताओं का द्वन्द्व है, जो विचारधाराओं के नाम से प्रचारित किया जा रहा है और इसमें निश्चित लाभ-हानि के गणित होते हैं।

सेन्सेबल समाज में न्यूसेन्स ज़्यादा प्रखर होता है, जैसे सफेद कपड़े के ऊपर छोटा-सा भी काला दाग़ आपको दूर से दिखाई दे जाता है। साहब, सेन्सेबल सोसायटी में इतना-सा भी न्यूसेन्स बिल्कुल वैसा ही है जैसे सफ़ेद कपड़े पर, जगमगाते हुए कपड़ों पर उछला छींटा। तो ये काला छींटा दिखता ज़रूर है लेकिन स्वागत योग्य नहीं होता।

**आज के दौर में सिनेमा की भूमिका क्या और कैसी दिखाई देती है आपको?**

- फ़िल्में ही समाज को बना रही हैं और फ़िल्में ही समाज बिगाड़ रही हैं। इतनी सारी फ़िल्मों में हीरोचित कृत्य को क्यों समाज के लोग स्वीकार नहीं करते और विलेन-खलनायक के कृत्य को क्यों स्वीकार कर रहे हैं? उस फ़िल्म में बोली गयी अच्छी भाषा स्वीकार नहीं की जा रही लेकिन गाली स्वीकार की जा रही है तो दोष फ़िल्म का? दुर्योधन ने अपनी भाभी का चीरहरण फ़िल्म देखकर नहीं किया था। रावण फ़िल्म के प्रभाव से प्रभावित होकर मातेश्वरी जगत जननी माँ सीता को उठाकर नहीं ले गये थे, साधु बनकर ले गये थे। दुष्कृत्य या तमाम घटनाएँ-दुर्घटनाएँ पहले भी होती रहीं। हम रोज प्रवचन-कथाएँ सुनते हैं तो उन प्रवचन-कथाओं का, स्कूलों में पढ़ायी जाने वाली पढ़ाई का हमारे ऊपर इतना प्रभाव नहीं पड़ता, लेकिन उस तीन घण्टे की फ़िल्म के लिए हम अपनी तमाम सीखी हुई व्यवस्थाएँ भूल जाते हैं! कितना चमत्कार है, कितना जादू है, कितनी ताक़तवर चीज़ें हैं!

● ● ●

**हमारे गोंड चित्र एक तरफ़ कला हैं तो दूसरी तरफ़ अनुष्ठान और कर्मकाण्ड भी। इसलिए इन पर काम करते हुए भीतर एक क़िस्म का पूजा भाव बना रहता है। इसे समझने के लिए दर्शक को गहरी आस्था की ज़रूरत है।**

# हरी-भरी रहे परंपरा की अमरबेल!

**भज्जू श्याम**

**विनय उपाध्याय:** पहला सवाल ये बनता है कि आपने अपनी समझ की आँखें खोलीं, तो ये परम्परा आपको कैसी दिखाई दी? कैसे इससे नाता जुड़ा?

**भज्जू श्याम:** मैं एक साधारण परिवार से हूँ। मैं कोई आर्टिस्ट बनने भोपाल नहीं आया था। मेरी आर्थिक स्थिति कमज़ोर थी। दसवीं पास किया और उसके बाद काम की तलाश में भोपाल आ गया था। यहाँ मैंने तीन महीने वॉचमेन की नौकरी की और नौकरी छूटने के बाद मेरे गुरु स्वर्गीय जनगढ़सिंह श्याम जी ने मुझे बुलाया। मैंने वहाँ उनका काम देखा और उसके बाद वहीं रहने लगा। मुझे रहने और खाने के लिए मिल जाये, ये मेरे लिए बहुत बड़ी बात थी उस समय। मैं आर्ट के बारे में कुछ नहीं जानता था, लेकिन धीरे-धीरे, करते-करते समझता गया! उन्होंने बोला- 'मैं स्केच कर रहा हूँ, उसमें आप कलर भरिये।' करीबन दो साल लग गये मुझे काम को सीखने के लिए।

**दरअसल कोई भी काम करने के पहले ख़ासतौर पर वो काम जो कला परम्परा से जुड़ा होता है, पहले तो उस परम्परा की समझ बहुत ज़रूरी होती है। उस परम्परा से जुड़े रंग होते हैं, स्मृतियाँ होती हैं, कुछ मूल्य होते हैं। आपने जब ये काम करना शुरू किया तो केवल जनगढ़ के इशारे पर ही चले या उस परम्परा को भी समझा आपने?**

- मैंने क़रीबन पाँच साल तक उनके बताये हुए काम को ही किया। उन्होंने बोला कि आपको अगर समय मिलता है तो आप अलग से कुछ काम करिये। तो मैं रात में काम करता था वह जब आउट ऑफ स्टेशन जाते थे, एक्ज़ीबिशन के लिए जाते थे, तो मैं अलग से नहीं कर सकता था। अलग से करने का मतलब यह है कि 'उन्होंने बोला कि मेरे जैसे मत करना।' फिर से मैंने धीरे-धीरे करना शुरू किया। फिर हमारे यहाँ गोंड परधान, जो बाना बजाकर गाते हैं, गोंड राजाओं की कहानी, गोंड देवताओं की कहानी, बड़ादेव की कहानी है, उनको पढ़ना और समझना शुरू किया। मैंने कोशिश की समझने की। हमेशा मेरा प्रयास रहा कि हमारे पुरखों से चली आ रही परंपरा के सच को जानूँ और उसे रचता रहूँ।

**भज्जू जी, आपने इस परम्परा की बात की और आपने थोड़ा-सा इशारा किया कि इसमें देवताओं का, बड़ादेव का गान किया जाता है। आप थोड़ा विस्तारित करें इस विषय को।**

– जब से मैंने देखा और सुना है, गोंड जो थे परधानों को बुलाते थे। वो उस समय होता था किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती थी तो उसकी आत्मा की शान्ति के लिए और जिसके घर में दुःख है, उस दुःख को भुलाने के लिए गोंड राजाओं की कहानी, भगवानों की कहानी सुनायी जाती थी और उसको सुनाने से वो जो दुखी आत्मा थी और वहाँ के जो परिवार थे, वो कहानियों में खो जाते थे। ऐसा मैंने सुना है।

**दरअसल एक आख्यान है जिसको कि संगीत में ढालकर आपके परधान गाते रहे, पहुँचाते रहे। ये परम्परा पूरी की पूरी चित्रों में कब आयी?**

– मेरे चाचाजी के चित्रों में मैंने कुछ देखा था। जैसे धरती की उत्पत्ति। हमने सुना है कि पहले धरती में पानी ही पानी था। कोई पेड़-पौधे नहीं थे, चाँद-सूरज नहीं थे, जीव-जन्तु नहीं थे, कुछ नहीं था। ये जो कहानी थी, मैंने कुछ सुनी थी और देखा भी था तो थोड़ी-थोड़ी झलक आ रही थी चाचा की पेंटिंग में। तो मैंने कोशिश की कि सृष्टि की उत्पत्ति की एक ही पेंटिंग बनायी जाये। केंचुआमल धरती को पाताल द्वीप में रखे हुए थे, किसी ज़माने में भगवान ने उनको शक्ति देकर रखी थी, वो मिट्टी खाते हैं। तो शंकर भगवान यानी बड़ादेव धरती की उत्पत्ति के लिए कौआ का अवतार लेते हैं। अपने अंग के मैल से कौआ बनाते हैं। कौआ बनाकर उसे धरती का पता करने के लिए भेजते हैं। वो धरती केंचुआमल के पास रहती है जो पाताल द्वीप में है! उसके सहारे कैसे रहा होगा, कैसे गया होगा, कैसे कौआ बना होगा, कैसे केंकड़ा मिला होगा? ये मैंने अपने मन से निकाला कि ऐसा रहा होगा, शायद ऐसा रहा होगा। मैंने तो देखा नहीं है, लेकिन उसके हिसाब से मैंने पेंटिंग करना शुरू किया।

**गोंड चित्रों की एक बड़ी श्रृंखला जब हमारे सामने आती है, उसमें अनिवार्य रूप से पेड़ होता ही है। पेड़ किस बात का प्रतीक है?**

– देखिए, पेड़ जो है, आप भी मानेंगे उसको कि पेड़ बनाने का मतलब यह है कि हमारे घर इन्हीं पेड़ों से बनते हैं। रस्सी की ज़रूरत होगी, हल की ज़रूरत होगी, दवाओं की ज़रूरत होगी, बहुत सारी चीज़ें हैं जिनके लिए हम पेड़ों पर ही आश्रित हैं और पेड़ हमारे लिए बहुत ज़रूरी हैं। पेड़ से हमारे घर की ज़रूरतें पूरी होती हैं।

**जी, मैंने कहीं पढ़ा था कि साजा नाम का एक वृक्ष जिसके नीचे बैठकर ही जब बड़ादेव की प्रार्थना बाना लेकर की जाती है तो बड़ादेव प्रसन्न होता है। क्या ये सच है?**

– ये सच है। ये हमने सुना है। हमारे पूर्वज ने बताया कि साजा नामक जो पेड़ है उसके नीचे वे बैठकर गाते थे। कई रातों तक गाते थे और उसमें प्रकट होकर बड़ादेव ने बताया कि– 'इसकी आप पूजा करिये। पूजा करने से और आप गाते रहेंगे और बड़ादेव का पाठ आप पढ़ते रहेंगे और गोंड की जो उत्पत्ति है वो बोलेंगे तो आपकी मनोकामना पूरी होगी। आपके जितने भी दुख-तकलीफ़ें हैं वो सब दूर होंगे।' पेंटिंग में मैं यही कोशिश करता हूँ शायद ऐसा रहा होगा। हमारे गोंड चित्र एक तरफ़ कला हैं तो दूसरी तरफ़ अनुष्ठान और कर्मकाण्ड भी। इसलिए इन पर काम करते हुए भीतर एक किस्म का पूजा भाव बना रहता है। इसे समझने के लिए दर्शक को गहरी आस्था की ज़रूरत है।

**मतलब एक प्रतीक कई अर्थों में हमारे भीतर खुलता है। जैसे कि मैंने आपको कहा कि साजा वृक्ष के नीचे बड़ादेव की प्रार्थना की जाती है, तभी बड़ादेव प्रसन्न होते हैं, लेकिन आपने भी उसका दूसरा अर्थ खोला और कहा, एक वृक्ष, भरा-पूरा जीवन होता है और उसके साथ हमारे सरोकार जुड़े होते हैं। उसके साथ विश्वास, परम्पराएँ, जीवन-यापन की आश्वस्ति, ये सारी चीज़ें जुड़ी होती हैं। थोड़ा ये बताइये कि लोक आख्यान जो केवल और केवल आपके कथा-गायन और संगीत तक सीमित था कब यह सब एक दिन चित्रों में आ गया?**

– ये ज़्यादातर हम लोग दरवाज़ों और खिड़कियों में देखते थे, हम जब गाँव में रहते थे। चित्रों की अगर बात करें तो ये हमारे चाचाजी जनगढ़सिंह श्याम ही लाये हैं। ज़्यादा दिन नहीं हुए हैं। मुझे लगता है कि पैंतालिस-पचास साल हुए होंगे, चित्रों में आने को। लेकिन उसके पहले वो लकड़ियों में, लोहों में और घरों में बनते थे, मिट्टी की दीवारों में। धीरे-धीरे ये एक आर्ट बन गया और पेपर एवं केनवास में आ गया। जैसे मैं रामसिंह उर्वेती का नाम लूँ। रामसिंह उर्वेती के पास बहुत सारी कहानियाँ हैं। वो कहानियों में ही काम करते

हैं। हमारी पेंटिंग में ज़्यादातर कहानियाँ हैं। रामसिंह उर्वेती और हमारे चाचाजी जनगढ़सिंह श्याम कहानी को ही बनाते थे। पूरे एक केनवास को पूरी एक सीरीज़ में बनाया करते थे।

**आपने व्यावसायिक दबाव के चलते समझौते भी किये हैं?**

– हाँ, समझौते किये हैं, ऐसा हुआ है। लेकिन कई बार ऐसा हुआ कि हमने अपने मन के भी काम किये हैं, ज़िद भी रही कि ऐसा नहीं होना चाहिए।

**अब–जब गोंड चित्र–परम्परा पूरी दुनिया में इतनी लोकप्रिय हो गयी है कि बड़ी–बड़ी दीवारें आपके चित्रों से सजती हैं, बहुत सारे लोग अपने ड्राइंगरूम का भी हिस्सा बनाते हैं। ऐसे में कहाँ पर और कितना आप अपनी परम्परा के साथ समझौता करते हैं लेकिन अपनी परम्परा को पूरी शुद्धता के साथ, बिल्कुल ठीक सन्दर्भों के साथ बचाये भी रखते हैं। ये बचाये रखने वाली जब बात होती है तो आप क्या कोशिश करते हैं?**

– देखिए, अभी तो जितने भी नये लड़के हैं, क़रीब दस साल से, इसको जीने का एक सहारा और पेट का ज़रिया उन्होंने बना लिया है। दस साल पहले इतना ज़्यादा नहीं था। मेरे हिसाब से बारह साल पहले नहीं था। उसके बाद, गोंड आर्ट बहुत ज़्यादा, सारी दुनिया में फैल गया। बचाये रखने की बात है। बाना बजाने वाले बहुत कम रह गये हैं। मेरी कोशिश है कि मैं एक क्लास खोलूँ। अभी सरकार से और कुछ संस्थाओं से मैं बात कर रहा हूँ। हमारी परम्परा बची रहे इसकी कोशिश। हमारे गोंड राजाओं की कहानी, हमारी रानियों की कहानी, हमारे देवी–देवताओं की कहानी, हम लोगों की खेतीबाड़ी की कहानी! ये सारा कुछ इस माध्यम से बचा रहे।

**भज्जू जी, संस्थागत ढंग से आप इसको बचाने की बात कर रहे हैं। क्या आपके पाटनगढ़ में या आपके उस मण्डला–डिण्डौरी के इलाक़े में, जहाँ आपके पूरी परधान जाति के लोग अभी भी रहते हैं, क्या वहाँ बाना गाने वाले लोग भी हैं?**

– बहुत कम हैं, सर। बहुत कम हो गये हैं। क्योंकि शहर से लेकर गाँव तक रोड़ हो गया है और सब आदमी शहर में आ रहे हैं और शहर में जो देख रहे हैं वही चीज़ कर रहे हैं। हम लोग पहले जब शादी करते थे, तब घोड़े से बारात जाती थी। आज बस में जा रहे हैं, गाड़ी में जा रहे हैं। घोड़े से कोई नहीं जा रहा है। तो बाना बजाने वाले बहुत कम लोग रह गये हैं। कोई बजाना नहीं चाहता। शर्म आ रही है लोगों को। इसी के लिए मैं एक स्कूल जैसा खोलना चाहता हूँ ताकि वो बचा रहे। गाँव के ही टीचर होंगे और वो ही अपनी रुचि से सिखाएंगे।

**याद आते है जनगढ़ सिंह श्याम, वो तो आपके पहले गुरु माने जाते हैं...**

– उन्होंने पेड़ बनाना शुरू किया था। रामसिंह उर्वेती, आनन्द श्याम, नर्मदा सब लोगों ने पेड़ ही बनाना शुरू किया था। तो जो भी आता है, देखता है कि ये पेड़ बन रहा है तो पेड़ की ही माँग करते हैं। बनाते हैं और मैं सच कहूँ तो वो सेल भी हो रहा है। लोगों के लिए वो फ़ायदेमंद है। आर्थिक स्थिति के लिए भी सही हो रहा है। तो लोग ज़्यादातर पेड़ बनाते हैं। मुझे लगता है कि अगर वो जो कुछ नया करना चाहते तो, शायद उनमें वो सक्सेज नहीं हो पाते! एक पहचान–सी बन गयी है पेड़। गोंड पेन्टिंग अगर आप देखेंगे तो गोंड पेन्टिंग यानी पेड़। पेड़ और एनिमल्स।

**ये जो रंग हैं, चटख रंग हैं आपके। और ज़ाहिर है कि ये आप अपने पाटनगढ़ के वनवासी संसार से लेकर आये हैं। मिथकों और अपनी परम्परा को लेकर जो रंगों और रेखाओं का एक वृहद खुला सृजन–संसार रहा इसमें कहीं कोई समझौता किया क्या आप लोगों ने? क्योंकि माँग पर जब चित्र बनाने की बात आती है तो कहीं न कहीं हमारी परम्परा पर खरोंच भी आती है।**

– रंगों की बात है, तो रंग शहर में ही मिले हैं। गाँव में पाँच–छः कलर ही हुआ करते थे। ये मिट्टियों के कलर होते थे। हमने शुरू में इन्हीं में काम किया। लेकिन जब हम लोगों ने बहुत सारे वर्कशॉप करना शुरू किये, बहुत सारे कन्टम्परेरी आर्टिस्ट, मॉडर्न आर्टिस्ट और बहुत सारे अन्य लोगों के साथ काम किया, दूसरे देशों में गये, उनके साथ रहने के बाद हमको कई सारे काम देखने–सीखने को मिले। इस सिलसिले में प्रयोग की दृष्टि से परंपरा से हटकर काम करना शुरु किया। नए रंग और केनवास शामिल हुए।

**जब आप ब्रिटेन जाते हैं, जर्मनी जाते हैं, हॉलैण्ड जाते हैं, रूस जाते हैं- तब आपकी गोंड चित्र-परम्परा वहाँ की दीवार और केनवास का हिस्सा बनती है। उन्हें ये चित्र किन अर्थों में आकर्षित करते हैं?**

– मेरे साथ बहुत सारे क्वेश्चन-आंसर होते हैं। कई बार हम लोग जवाब नहीं दे पाते। 'अलोन इन द फॉरेस्ट' मेरी एक पुस्तक का नाम है। उसमें एक गाँव का आदमी है जो रोज़ जंगल में जाता है, लकड़ी काटता है और आता है, लेकिन एक रात उसको एक स्टोरी सुनने को मिलती है कि जंगल में बहुत सारे सुअर हैं जो ख़तरनाक हैं, जो काट लेते हैं। मार भी देते हैं। वहाँ से बचकर निकलता है एक आदिवासी लड़का, भय से! उसको एक गाय मिलती है अन्त में, तो गाय के साथ उसको अपनापन लगता है। अब वही स्टोरी मैं लंदन में या पेरिस में बता रहा हूँ, तो एक आदमी ने मुझे कहा कि 'गाय आपकी माता है, अगर हम लोग रेलवे लाइन में बाँध देंगे तो क्या वो बच जायेगी?' ऐसे सवाल हमको सुनने को मिलते हैं। तो हमें आंसर तो देना पड़ता है। हमारी कहानियों को वहाँ बहुत पसन्द किया जाता है।

**भज्जू जी, सन् 2004 में आपकी एक किताब आयी, लंदन का यात्रा वृत्तांत है उसमें। बड़ी ही रोचक।**

– यह किताब लंदन में बिताए समय का लेखा-जोखा है। कल्पना के कुछ रंगों के साथ मैंने वहाँ की यादों को समेटा है। गाँव के एक आदमी का शहर, महानगर और फिर विदेश तक पाँव पसारना, कई मायनों में मन की दशा का बदलना। यह सब मेरी किताब के पन्नों पर उकेरा है मैंने।

**अंग्रेज़ी में है आपकी किताब? आपके साथ किसने शेयर किया इसको?**

– हम लोग लंदन में काम कर रहे थे- रामसिंह उर्वेती के साथ। दो महीना। मसाला ज़ोन, एक रेस्टोरेण्ट है। वहाँ से वापस आया। हमें 'तारा बुक्स' की एक मैडम मिलीं- गीता उल और उन्होंने कहा कि आप लंदन गये थे तो लंदन में कैसा लगा, क्या लगा? आप स्कैच करके या पेंटिंग करके बता सकते हैं?' मैंने कोशिश की और मुझे तीन महीने लग गये बनाने में। जो लंदन और हमारे गाँव की बात थी। फॉरेनर भी हमारे यहाँ आए, जैसे वेरियर एल्विन।

**बिल्कुल! उन्होंने सबसे ज़्यादा काम किया है हमारे यहाँ...**

– हमारी परम्परा में काम किया और वह रहीं, बल्कि मेरे ही गाँव में रहीं। हमारी परम्परा में रच-बस गयीं। हमारी फैमिली में ही शादी की उन्होंने। हमारी परम्परा के बारे में बुक बनायी। मैं वहाँ गया तो मैंने कोशिश की, कि वहाँ के लोग कैसे रहे!

**आपको पद्मश्री मिला। आपके बाद क्या आपके परिवार में, आपके बच्चे, आपकी पत्नी या आपके कुल के लोग इस तरह से सक्रिय नज़र आते हैं?**

– मैं बहुत ख़ुशक़िस्मत समझता हूँ अपने आपको, कि मुझे पद्मश्री अवॉर्ड मिला और लोगों ने मेरा काम पसन्द किया। अभी मैं कर रहा हूँ और मुझे एक ज़िम्मेदारी का एहसास हो रहा है। मुझसे जो सीनियर हैं और वो भी बहुत अच्छे काम कर रहे हैं। मुझे लगता है कि बहुत सारे आर्टिस्टों को पद्मश्री मिल सकता है।

**सम्मान प्राप्त करने के बाद कौन-सी चुनौतियाँ हैं आप महसूस करते हैं?**

– मुझे जिस परम्परा ने सम्मानित किया है मैं उसके संरक्षण को लेकर कोशिश में अलग तरह से लगा हूँ। कोशिश कर रहा हूँ कि एक स्कूल खोलूँ, जिससे आने वाली पीढ़ी परम्परा को जाने। लेकिन मेरे बच्चे और अभी के बच्चे भी नहीं जान पा रहे हैं, वे उसको जानें, पढ़ें; नहीं तो ये किताब में ही रह जायेगा। देखिए, बहुत सारे आर्टिस्ट हैं, ग़ैरसरकारी संस्थाएँ हैं और सरकारी संस्थाएँ हैं जिन्होंने मदद की है। मैं सच कहूँ तो मुझे 'द लंदन जंगल' बुक से ही पहचानना शुरू किया है। पेन्टिंग तो मेरे चाचाजी और बहुत सारे लोग करते थे आप भी जानते हैं। यहाँ पन्द्रह-सोलह आर्टिस्ट हैं, सीनियर हैं। अभी तो क़रीबन पचास आर्टिस्ट हो गये हैं। जब 'द लंदन जंगल' बुक आयी, उसमें लोगों ने पढ़ा और प्रदेश में ही नहीं, पूरे देश में उसको पढ़ा गया और पाँच भाषाओं में रिलीज हुई वो पुस्तक। उसके बाद डब्ल्यु.पी.पी. एक संस्था है लंदन में, उसने मुझे एक बड़ा काम दिया था, जिससे मैंने अपना घर बनाया और उसके बाद और सारे- 'नाइट लाइक ट्री' एक बुक है वो भी बनायी, 'अलोन इन द फॉरेस्ट' बनायी। 'क्रियेशन' बुक अभी मेरी बहुत अच्छी चल रही है, जो पाँच भाषाओं में हो गयी है। 'क्रियेशन' बुक, सृष्टि की उत्पत्ति की बात है।

● ● ●

**अनुदान नाटक को बिगाड़ रहा है। अनुदान लिया है तो शर्त है कि इतने शो करना होंगे। इतने नाटक करना है तो दर्शक भी चाहिए। कुछ टिकट लेकर आ जाएँ, कुछ को बुला लिया। सारा ख़र्चा तो अनुदान के रूप में मिल गया है। टिकट बिकता है या नहीं बिकता, इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता।**

राजीव वर्मा

# रंगकर्म सुधारना है तो अनुदान की व्यवस्था बदल दो

**राजीव शुक्लाः** राजीव जी, मैं अपने पाठकों को आपकी कला यात्रा से रूबरू करवाना चाहता हूँ। सहज जिज्ञासा है कि यह कैसे प्रारम्भ हुई? रंगमंच करने के भी पहले रुचियों का निर्माण कैसे हुआ?

**राजीव वर्माः** बड़ी पुरानी बात है। लंबी यात्रा है। बचपन में जो देखा, मन पर उसका असर हुआ। उसी को करने की इच्छा जागृत होती रही। ऐसा नहीं कह सकते कि हम बचपन से बड़े कलाकार थे या समझ रखते थे। हाँ, ऑबजर्वेशन और इंटरेस्ट क्रिएट होने वाली बात है तो उसके पीछे बहुत से कारण पाता हूँ। पहले ध्यान नहीं दिया लेकिन अब सोचता हूँ तो पाता हूँ कि ये कारण रहे होंगे। जैसे बचपन में हम मंडीदीप गाँव जाते थे। वहाँ सालाना रामलीला देखने का बड़ा अजीब अनुभव था। अचंभा भी होता था कि गाँव के लोग दिन में रिहर्सल करते थे और शाम 4, 5 बजे से मेकअप होता था। सब कुछ फेसिनेटिंग था। पुराने अंदाज़ का मेकअप गेटअप, रेशमी कपड़े, मूँछें, सिर पर मुकुट। शाम को रामलीला होती। बाँस पर लपेट कर पर्दा लगाया जाता। उस पर दृश्य होते थे। कौतूहल होता था कैसे कर लेते हैं। 8-10 साल की उम्र रही होगी। हमारे पिता भोपाल में एडवोकेट थे लेकिन शनिवार-इतवार मंडीदीप में ही बिताते थे। उन दिनों दशहरे दीपावली की लंबी छुट्टियाँ होती थी। ये छुट्टियाँ वहीं बिताते थे। रामलीला को देख रुचि जागृत हुई। वहाँ के कलाकार जैसे सूर्पणखा गाँव का ही एक पुरुष बनता था। वहाँ के पहलवान परशुराम बनते थे। गाँव के काका, बाबा अलग-अलग भूमिका निभाते। रामलीला करने वालों को लोग अलग नज़र से देखते थे। अलग श्रद्धा आदर मिलता था। यह बड़ा फेसिनेटिंग था कि जो मंच पर काम करते थे उन्हें अलग सम्मान मिलता है। बचपन से ही दिलोदिमाग़ में था कि ऐसा करने से लोग पहचानते हैं। लोकप्रिय हो जाते हैं। इसके बाद गणेशोत्सव स्कूल के कार्यक्रमों में छोटी-छोटी चीज़ें करने लगे। स्कूल में नाटक करने या वाद-विवाद में भाग लेने से प्रभाव बढ़ता गया। पिता एडवोकेट थे तो उनकी किताबें पढ़ता रहता था। मुझ पर मेरी माँ का

भी प्रभाव पड़ा है। वो पढ़ने की बड़ी शौक़ीन थीं। जैसा मुझे बताया गया, उनके पिता ने उन्हें दहेज में सिर्फ़ किताबें और एक हारमोनियम दिया था। उनकी लाइब्रेरी में बंकिम बाबू, रवीन्द्र नाथ, शरतचन्द्र आदि की किताबें थीं।

कॉलेज में आया तो वहाँ भी कार्यक्रम में भाग लेता। उन दिनों रेडियो नाटक का बढ़ा चलन था। कुछ अलग पहचान बनाने की कोशिश की तो आकाशवाणी में ड्रामा वॉइस बन गए। युववाणी में कम्पेरिंग का मौक़ा मिला। कुछ कह नहीं सकता कि उन दिनों थिएटर को पहचानता था। शाम को यह हमारा टाईम पास था। भाग्य की बात है कि हमें यह टाइम पास मिला। फिर तो जैसे यह शौक़ हो गया कि सब मिल कर इकट्‌ठा हों और नाटक करें। हालाँकि इसमें कोई पैसा नहीं मिलता था, बल्कि अपना ख़र्च ही होता था। ये मेरी थिएटर की समझ होने तक की यात्रा है।

**वो कौन सा वक़्त था जब आपने शौक़िया रंगमंच शुरू किया?**

– मुझे ज्ञात नहीं है कि वो शौक़िया रंगमंच था या कुछ और। हम कभी-कभी सुनते ज़रूर थे कि महाराष्ट्र समाज में कुछ नाटक होते हैं या जनसम्पर्क विभाग में भाऊ खिरवड़कर जी का नाट्य दल हुआ करता था। उसे देखने का मौक़ा मिलता था। एक बार की बात है भोपाल में बड़ा चर्चा हुआ कि मुंबई से नाटक आया हुआ है। मुझे साफ़-साफ़ याद है ओम शिवपुरी का नाटक था 'कंजूस' उसके टिकट घर-घर जा कर बेचे गए थे। मेरे पिता पुराने भोपाल के जाने-माने लोगों में से थे। माननीय शरदजी स्वयं टिकट बेचने आए थे। तब से लगातार नाटक देखा करते थे। 1965 में एमएसीटी में आर्किटेक्ट विभाग में दाखिला लिया था। कॉलेज के सेकण्ड ईयर से नाटक करने का सिलसिला शुरू हो गया था। 1972 में मेरी नौकरी लग गई। शाम को 5, 5.30 बजे फ्री हो जाते तो इकट्‌ठा होकर नाटक करते थे। इसी दौरान म.प्र. कला परिषद ने विज्ञापन दिया कि कोई थिएटर पर्सन बव कारंत हैं, उनके मार्गदर्शन में एक थिएटर वर्कशॉप का आयोजन किया जा रहा है। यह दो-तीन माह की थी। हमने भी दो-चार दोस्तों के साथ फार्म भर दिया। इत्तिफ़ाक़ की बात है कि हमारा चयन भी हो गया। इसे मेरे थिएटर के जीवन की गंभीर शुरूआत मान लीजिए। वहाँ से समझ में आया कि थिएटर असल में होता क्या है। केवल दो-चार लोग इकट्‌ठे हो कर लाइन रट कर नाटक कर लेना ही थिएटर नहीं है। इसका नशा, शौक़ और ललक अलग ही चीज़ है। सही अर्थों में मेरी रंगयात्रा यहाँ से शुरू हुई। कारंत ने दो माह में हमें निर्देशन, मेकअप, स्टेज, क्राफ्ट, कास्ट्यूम, एक्शन की जानकारी दी।

कार्यशाला में दो नाटक तैयार किए गए। एक तो शंकर शेष का 'एक और द्रोणाचार्य' और राजस्थान के एक लेखक 'मणि मधुकर का'। तीन शॉर्ट प्ले किए गए जिनमें मोहन राकेश का 'छतरिया' तथा उपेन्द्र कुमार अगधवाल का 'कुड़े का पीपा' शामिल है। शॉर्ट प्ले का मंचन कला परिषद की छत पर किया गया। वर्कशॉप और नाटक करने का वह अलग ही अनुभव था। क्राउड को कैसे ह्यूमन कर्टन की तरह इस्तेमाल करना, आवाज़ का इस्तेमाल किस तरह म्यूजिक की जगह करना, कॉस्टयूम, सेट डिजायनिंग सीखाई गई। कार्यशाला में कपिला वात्सायन, राममूर्ति, प्रेमा कारंत आदि भी आए थे। यहाँ से हमें शौकिया रंगकर्म का चस्का लगा और हमने संस्था बनाई रंग शिविर। इसी कार्यशाला में रीता भादुड़ी (अब पत्नी) से मुलाक़ात हुई। बाद में हमने तीन शार्ट प्ले और एक नाटक किया 'पंछी ऐसे आते हैं।' इसमें कारंतजी का अद्‌भुत प्रेजेंटेशन स्टाइल था। हम समझते थे कि मेकअप, सेट डिजाइन, सेट में बदलाव जैसी सारी चीजें पर्दे के पीछे होना चाहिए और दर्शकों को इनका आभास नहीं होना चाहिए। लेकिन कारंत ने अजीब प्रयोग किया। नाटक में मेरा मेकअप चेंज होता है, हीरोईन रीता का मेकअप बदलता है, सेट बदलता है लेकिन सबकुछ दर्शकों के सामने। काला गाऊन पहने एक मेकअप मेन आता है और दर्शकों के सामने मेरा मेकअप बदल देता है। यह बड़ा फेसीनेटिंग था कि ऐसा भी संभव है। दर्शकों के लिए भी यह अचंभा था।

**इस दौरान कुछ संस्थाओं का निर्माण भी हुआ?**

– हाँ। कुछ समय बाद मेरा तबादला इंदौर हो गया। वहाँ 'संवाद' नामक संस्था बनाई। तब तक मैं और रीता पति-पत्नी हो चुके थे। वहाँ विजय तेंदुलकर का नाटक 'सखाराम बाइंडर' किया। इसके लिए एनएसडी के ज्योति स्वरूप को बुलाया था। वर्कशॉप का आयोजन किया जिसमें नई दुनिया के संपादक राजेन्द्र माथुर, राहुल बारपुते जैसे कई बड़े लोगों ने शिरकत की। फिर मेरा तबादला भोपाल हो गया। यहाँ नाटक के साथ अन्य कार्यक्रम करता रहा। फिर इक़बाल मजीद की अध्यक्षता वाली संस्था 'दर्पण' के साथ जुड़ कर नाटक किए। थिएटर में अक्सर बौद्धिक झगड़े बहुत होते हैं तो ग्रुप बनते रहे, बिगड़ते रहे।

### रंगमंडल की स्थापना के समय तो आप उससे जुड़े थे?

– 1982 में रंगमंडल की स्थापना हुई। कारंत यहाँ निदेशक बन कर आए। उस समय हमें रंगमंडल से जोड़ा गया। हमें रंगमंडल से बड़ी आशाएँ थीं लेकिन हम इसके स्वरूप से सहमत नहीं थे। मुझसे जब राय ली गई तब मैंने सुझाव दिया था कि इसके बदले राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की तर्ज़ पर कोई स्कूल प्रारम्भ करना चाहिए ताकि थिएटर को अपना कॅरियर बनाने का इच्छुक प्रदेश का टेलेंट यहाँ प्रशिक्षण ले और वही रंगमंडल में काम करे। हमारे यहाँ यही सबसे बड़ी ख़राबी है कि व्यक्ति विशेष की पसंद–नापसंद से जो भी शासकीय या अशासकीय संस्था बनती है, वह व्यक्ति विशेष के जाने के बाद बिखर जाती है। उसके क़ायदे–कानून तो होते नहीं है, व्यक्ति की पसंद–नापसंद से सब कुछ चलता है। हालाँकि इतना बजट था कि आराम से नाट्य विद्यालय खोला जा सकता था। तब तो बात सुनी नहीं गई और अब दो साल पहले नाट्य विद्यालय की स्थापना की गई।

इस बीच कारंतजी को कुछ सूझा या मेरे ख़्याल से किसी न किसी प्रेशर में थे जो उन्होंने कहा कि शौक़िया रंगकर्मियों को लेकर कुछ काम करते हैं। उन्होंने प्रेमचंद का नाटक 'कर्मभूमि' किया जिसमें कलाकार सारे शौक़िया रंगकर्मी थे और तकनीशियन उनके रंगमंडल के कर्मचारी। लेकिन इसके बाद ख़ासतौर से मेरी तो रंगमंडल से दूरी हो गई।

### रंगमंडल के आगे शौक़िया थिएटर क्यों नहीं टिक पाया?

– रंगमंडल का बजट ज़्यादा था, संसाधन ज़्यादा थे। उनके सामने कोई शौक़िया रंगकर्म क्या टिकता? जो चंदा कर नाटक करता था, टिकट नहीं बिकते, पैसे नहीं, संसाधन नहीं, प्रशिक्षण नहीं वह कैसे टिकता? उस दौरान पाँच साल में जो शौक़िया रंगकर्म ख़राब हुआ वही असली थिएयर मूवमेंट था। थिएटर मूवमेंट यह नहीं है कि रंगमंडल बना दीजिए और कर्मचारी बना कर दुनिया भर में नाटक करवाइए। पैसे देकर देश भर के अच्छे लोगों को बुला कर काम करवाइए। इससे प्रदेश का तो कुछ भला नहीं होना और वही हुआ जो हमने सोचा था। हम लोगों को कुछ सहायता नहीं मिली। रंगमंडल में कुछ केजुअल आर्टिस्ट भर्ती कर लिए। उनसे करवाते रहे। हालाँकि ये ज़रूर हुआ कि रंगमंडल के कारण भोपाल का नाम हो गया। ज़ाहिर है देश भर के लोग आते थे तो भोपाल की गहमा–गहमी में इज़ाफ़ा हुआ। इतना ज़रूर हुआ की देश भर में हमारी पहचान बनी।

### रंगमंडल से दूरी के बाद क्या हुआ?

– मैं अपने नाटक करता रहा। उसी समय मैंने संस्था या थिएटर कंपनी 'भोपाल थिएटर' बनाई और मेरे शौक़ के लिए काम करता रहा। पैसा मिल जाता था, ब्रोशर छाप लेते थे। उसी दौरान नेशनल टीवी शुरू हुआ। मैं अपना पोस्ट ग्रेजुएशन करने सरकार की तरफ़ से दिल्ली गया हुआ था। वहाँ 'चुनौती' सीरियल का प्रस्ताव मिला। हम तो सरकार के नौकर थे। कहा गया कि यह नौकरी के एक्सटेंशन की तरह ही है। उसके बाद कई प्रस्ताव मिलते रहे।

### मुंबई की यात्रा पर कुछ देर बाद सवाल करूँगा, पहले यह बताएँ कि कारंत के भोपाल आने का क्या कोई फ़ायदा भी हुआ?

– फ़ायदा तो निश्चित हुआ। ये तो आप कह नहीं सकते कि फ़ायदा नहीं हुआ। उनका मप्र आना ही बड़ी बात थी। उनके साथ जुड़े प्रबुद्ध नाटककार यहाँ आते रहे। उनकी सोच, उनकी दृष्टि के साथ दूसरी चीज़ें जुड़ी होती हैं। रंगमंडल और उस सबका असर यह हुआ कि भोपाल में साल भर में कई आयोजन होने लगे। हमारा दर्शक हिन्दुस्तान भर में मशहूर है। यहाँ के थिएटर करने वालों की तो बात छोड़ ही दीजिए जो बाहर से नाटक करने आते हैं हमेशा कहते हैं कि ऐसे दर्शक हमने कहीं नहीं देखे। हालाँकि ये संख्या में कम हैं।

### आपको ऐसा नहीं लगता कि नाटक बहुत हो रहे हैं लेकिन उनमें गुणवत्ता की कमी है?

– नहीं है नाटकों में गुणवत्ता। मैं यह समझता हूँ कि हमारे यहाँ के नाटककार बाहर के नाटक देखते हैं लेकिन देखने के बाद कुछ ग्रहण नहीं करते। उन्हें बहुत–सी चीज़ों से इतना प्रेम हो जाता है कि प्रस्तुति के बाद ज़रूरी होने पर भी उसे हटाते नहीं है। नए नाटक बहुत ही कम तादाद में होते हैं। नाटक बहुत लंबे और उबाऊ होते हैं। बहुत–सी बातों को जो हम एक–दो वाक्य में कह सकते हैं उसके लिए पूरा एक पैराग्राफ बोला जाता है। दूसरी चीज़ यह कि निर्देशक अपनी पूरी ख़ूबी या क़ाबिलियत एक ही नाटक में प्रदर्शित करना चाहते

हैं। हर भाषा के नाटकों के दर्शक बहुत बढ़ गए हैं। उनमें से कई ऐसे हैं जो फूहड़ता पसंद करते हैं। पसंद करना अलग बात है, इसके लिए मनोरंजन के दूसरे साधन हैं। थिएटर को केवल मनोरंजन न बनाएँ। हँसाना है तो यह नहीं कि फूहड़ता परोस दी जाए। मैंने कई नाटककार देखें है जो एक ही नाटक को सिंधी में भी कर देंखे हैं, हिन्दी में भी और किसी और भाषा में भी। नाटक तीन घंटे का है और कोई दो घंटे का माँग रहा है तो वे दो घंटे का भी कर देंगे। एक घंटे का माँगा तो एक घंटे का हो जाएगा।

तीसरा, अनुदान नाटक को बिगाड़ रहा है। अनुदान लिया है तो शर्त है कि इतने शो करना होंगे। इतने नाटक करना है तो दर्शक भी चाहिए। कुछ टिकट लेकर आ जाएँ, कुछ को बुला लिया। सारा ख़र्चा तो अनुदान के रूप में मिल गया है। टिकट बिकता है या नहीं बिकता, इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता।

**क्या इसीलिए बेहतर दर्शक वाले शहर में भी कोई टिकट ख़रीदना नहीं चाहता?**

– पहले टिकट ख़रीदना अनिवार्य था। यहाँ तक कि स्वयं अशोक वाजपेयी टिकट ख़रीदते थे। ये प्रथा हमको ऊपर से शुरू करना होगी। अनुदान मिला हो कि न मिला हो, टिकट तो लेना होगा। अभी तो पैसा मिला है। आमंत्रण भेज देते हैं। आदमी आता है। बीच में खाँसेगा, खखारेगा। तबीयत नहीं लगी तो उठ कर चल देगा। बीच में मोबाइल अलग बजेगा। क्यों? दर्शक की भी तो कोई भागीदारी होना चाहिए। टिकट से पूरा ख़र्च नहीं निकल पाता लेकिन इससे एक तरह का इनवॉल्वमेंट होता है।

**एक और जिज्ञासा है। कारंतजी, बंसी कौल और अलखनंदन की त्रयी ने भोपाल के रंगकर्म को अपनी अलग पहचान दी। आप इनके बारे में क्या सोचते हैं?**

– कारंतजी से तो किसी का मुक़ाबला ही नहीं है। मेरे गुरु और बड़े पूजनीय हैं। मैं उनके बहुत क़रीब हूँ। मेरे बच्चे तो उन्हें कारंत नाना ही कहते हैं। वे मेरी पत्नी को बेटी भी मानते थे और गुरु शिष्य का नाता भी था। मैं उनके गाँव भी गया था और उनकी पत्नी प्रेमाजी मुझे बेटे जैसा मानती थीं। उनका किसी से मुक़ाबला नहीं कर सकते। मेरे लिए तो भगवान थे। बाक़ी उनकी व्यक्तिगत चीज़ें अलग हैं। उनका कोई मतलब भी नहीं है। वे जहाँ हैं, वहाँ हैं। कारंतजी ने 'रजत रंग' किया था तो उसमें मप्र की ओर से शेक्सपीयर के 'किंगलीयर' की यक्षगान शैली में प्रस्तुति दी थी। उसका हिन्दी में नाम रखा था 'राजा पगला तीन बेटियाँ'। मेरी उम्र उस समय 33-35 की रही होगी लेकिन कारंतजी ने 80 साल के किंगलीयर की भूमिका करवाई। मेरी पत्नी और अशोक वाजपेयी की पत्नी मेरी बेटी बनी थी।

बंसीजी बहुत अच्छा काम कर रहे हैं। वे बहुत अच्छे तकनीशियन हैं और कॉस्ट्यूम, मेकअप, गेटअप में बहुत बढ़िया काम किया है। हिन्दुस्तान में इसके मुक़ाबले का काम नहीं है। बंसीजी के निर्देशन में मैंने काम भी किया है।

अलखजी हमारे प्रदेश के थे। हालाँकि मैंने उनके साथ काम नहीं किया लेकिन स्टेट ड्रामा फेस्टिवल में वे जबलपुर से नाटक ले कर आते थे तब से ही परिचय था। उनके नाटकों में लोक नाट्य शैली परिलक्षित होती थी। वे ख़ुद लेखक भी थे। उन्होंने बहुत काम किया है लेकिन मुझे उनके नाटकों में प्रोफेशनलिज्म की कमी लगती है। उनके नाटक बहुत लंबे होते थे। कंटेट कम होता था लेकिन नाटक लंबा हो जाता था। यह मेरी व्यक्तिगत राय है। उनमें कई बारीक़ चीज़ें कमाल की होती थीं।

**मुझे कहीं से पता चला था कि भारत भवन में प्रवेश को लेकर आपकी कारंतजी से कुछ तकरार हो गई थी?**

– यह सवाल आप मत पूछिए। इसका कोई अर्थ नहीं है।

**क्या भारत भवन से कभी आपका दिल का रिश्ता नहीं बन पाया?**

– भारत भवन से कभी लगाव हुआ ही नहीं, पता नहीं क्यों? 1981-82 में यह शुरू हुआ और 1984 में मैं दिल्ली चला गया। वहाँ 86 तक रहा। एक साल बाद मुंबई जाना हो गया। हालाँकि इस दौरान नाटक करता रहा लेकिन शासकीय रंगकर्म से दूरी बनी रही। अभी भी मैं ख़ास मुतासिर नहीं होता हूँ।

**अब मुंबई यात्रा की बात करते हैं। पहली फ़िल्म 'मैंने प्यार किया' कैसे मिली और क्या भीतर ख़याल था कि यह फ़िल्म इतिहास रच देगी?**

– उस वक़्त मेरा एक सीरियल चल रहा था 'मुजरिम हाज़िर'। उसमें मेरा नेगेटिव किरदार था। पहले

माह में चार एपिसोड हुआ करते थे तो चार-पाँच दिन शूटिंग कर भोपाल लौट आते थे। एक बार जब मुंबई गया तो बताया गया कि राजश्री से फोन आया था और वे मिलना चाहते हैं। सूरज बड़जात्या से मुलाक़ात हुई। उन्होंने कहानी सुनाई और पूछा कि कैसी है? हालाँकि मैं बिल्कुल इंट्रेस्टेड नहीं था। सरकारी नौकरी थी। मैंने सोचा कहाँ झंझट में पड़ना। मेरा फ़िल्मों में जाने का मन होता तो बहुत पहले चला गया होता। मैं कहानी पर क्या कहता, मुझे तो नाम ही पसंद नहीं आया था। ये क्या नाम हुआ 'मैंने प्यार किया'। नाम तो होना चाहिए जैसे दीदार, मझधार। प्यार किया तो किया होगा। मैं थोड़ा असमंजस में था कि पिता का रोल करूँ या न करूँ। उन्होंने कहा कि पिता का रोल तो है लेकिन यह दो दोस्तों की कहानी है। मैंने राकेश चौधरी को फोन किया। उसने भी कहा कि राजश्री अच्छा प्रोडक्शन है कर लो। मैंने हाँ तो की लेकिन छुट्टियों की चिंता थी। राजश्री का मैनेजर आया और बोला कि फीस तय कर लेते हैं। उसने 15 हज़ार रूपए कहा। मैंने नाराज़ी जताते हुए कहा कि ये क्या रक़म है? कुछ सम्मानजनक होना चाहिए। उसने पूछा आप बता दीजिए। मैंने एक बहुत बड़ी रकम बताते हुए कहा कि इसके और 15 हज़ार के बीच होना चाहिए। वह मेरी बताई राशि पर तत्काल तैयार हो गया। एक मिनट में चेक ले आया। पैसे ठीक थे। मैंने कहा कि ये सब तो है लेकिन मैं तो भोपाल में रहता हूँ। शूटिंग के दौरान कहाँ रहूँगा? उन्होंने कहा कि जहाँ आप कहेंगे वहाँ ठहरने और आने-जाने की पूरी व्यवस्था की जाएगी। दिल में कहीं-न-कहीं लगता है कि फ़िल्म में काम करें तो मैंने हाँ कर दी। इस तरह पहली फ़िल्म मिली। तभी उनका कॉस्ट्यूम डिज़ाइनर आया और कपड़े आदि के नाप ले गया। बाद में मुझे राकेश चौधरी के दफ़्तर छोड़ दिया गया। राकेश को जब मैंने फीस के बारे में बताया तो वह चौंक गया। बोला- ये इतना कंजूस प्रोडक्शन है और तुम्हे इतना पैसा दे रहे हैं, इसका मतलब है कि फ़िल्म अच्छी बनाना चाहते हैं।

**शूटिंग का अनुभव कैसा रहा?**

- मुझे पता चला था कि ताराचंदजी बड़जात्या अपने पोते को प्रमोट करना चाहते थे। इसलिए फ़िल्म निर्माण के दौरान हर चीज़ का ख़ूब ध्यान रखा गया। पूरी शूटिंग किसी फाइव स्टार होटल सी सुविधाओं में हुई। शूटिंग मेरे ऑफ़िस के सीन से शुरू हुई। पूरा एसी सेट था। जब ऊटी में शूटिंग शुरू हुई तो बताया गया कि राज बाबू कह रहे हैं कि भाभीजी और बच्चे भी साथ चलेंगे। मैं संकोच में आ गया। उन्होंने मेरी बात समझ कर कहा कि पूरी व्यवस्था कम्पनी करेगी। बड़े प्यार से सभी का ध्यान रखा गया। फ़िल्म की शूटिंग ख़त्म हो गई। मैं अपनी नौकरी करने गया। फ़िल्म देखी भी नहीं थी। शूटिंग के बाद एक बार दिखाई थी लेकिन मैंने कहा-बहुत लंबी है। गाने भी बहुत हैं। फिर एक दिन प्रोडक्शन कंट्रोलर का फोन आया कि फ़िल्म देखी या नहीं। मैंने कहा कि क्या हुआ। वह बोला 'सर, फ़िल्म हिट हो गई।' फिर जब मुंबई गया तो मुझे, रीता और राकेश चौधरी को पत्नी के साथ फ़िल्म दिखाई गई। इस तरह फ़िल्म और काम मिलता रहा, लेकिन मेरी तबीयत नहीं लगी। 1996 तक तो नौकरी में रहा फिर ख़ूब काम आ गया पैसे भी इतने मिलने लगे कि नौकरी छोड़ दी। अब यही लगता है कि जो एक्टिंग मेरा शौक़ था वह मेरा प्रोफेशन बन गया और जो आर्किटेक्ट मेरा प्राफेशन था वह शौक़ बन कर रह गया।

**फिर शौक़ और काम में कैसे संतुलन बना पाते हैं?**

- नहीं रहता है संतुलन। कहाँ हो पाता है। किताबें पढ़ता रहता हूँ।

**भोपाल में रंग गतिविधियाँ बढ़ाने की कोई योजना है?**

- हाँ, सोचा तो है। वर्कशॉप करूँगा। ज़रूरी समझूँगा तो स्कूल खोल दूँगा। कभी-कभी लगता है कि स्कूल की ज़रूरत नहीं, क्यों? यहाँ से कुछ नहीं हो सकता है। जिसको करना होता है वह मुंबई चला जाता है। यहाँ बेसिक ट्रेनिंग मिल जाए वही बहुत है। कुछ साल पहले हमने यह कोशिश की थी कि बच्चे यहाँ से समझदार हो कर मुंबई जाएँ। लेकिन देखा कि आजकल सब तुरंत एक्टर बनना चाहते हैं। सीखने में किसी को कोई रुचि नहीं है। कई लोग रिकमंड करवाने आते हैं। पूछते हैं कि क्या किया तो बताते हैं, फ़ैशन किया है, कॉलेज में नाटक किया है लेकिन कुछ पढ़ा-लिखा नहीं है।

**आप अब भोपाल में किस चीज़ की ज़रूरत महसूस करते हैं? यानी क्या होना चाहिए?**

- सबसे पहले तो यही कि अनुदान देने का स्वरूप बदलना होगा। अनुदान दे देते हैं और कहते हैं कि थिएटर करो। कौन क्या कर रहा है, कैसा कर रहा है, देखने वाला कोई नहीं होता। पैसे दे कर फेस्टिवल करवा लिया, ये क्या बात है। इससे अच्छा तो सरकार कर ले। किसी को दे कर क्यों करवा रहे हो? अभी मात्रा तो

बहुत है लेकिन गुणवत्ता नहीं है। कई मर्तबा तो दर्शक कहते हैं कि ये क्या हो रहा है। कई बार नए दर्शक या साथ के लोग आ जाते हैं और मज़े लेते हैं। लेकिन इससे थिएटर के दर्शक ख़त्म हो जाएँगे। टीवी पहले ही सिर पर सवार है। आप देखिए, जब भी बाहर से कोई नाटक आता है, भीड़ जम जाती है। ऐसा क्यों? यह गंभीर विषय है। इस पर विचार होना चाहिए और बदलाव होना चाहिए।

**फ़िल्मों और नाटक का चेहरा और चरित्र बदला है। आप क्या महसूस करते हैं?**

– मेरे हिसाब से फ़िल्में बेहतर होती जा रही हैं। मुंबई की यह विडंबना है कि फ़िल्में अच्छी बन रही हैं लेकिन थिएटर पहले के मुक़ाबले कम अच्छा हो रहा है। अब जो थिएटर हो रहा है वह पूरी तरह कमर्शियल हो गया है। केवल 10 प्रतिशत अच्छा थिएटर हो रहा है। फ़िल्में अच्छी बन रही हैं। विषय बदल गए हैं, स्टोरी बेस्ड, परपसफुल और सोशल मैसेज देने वाली फ़िल्में बन रही हैं। वो जो दस फ़ीसदी बड़ी फ़िल्में कही जाती हैं, उनको छोड़ दीजिए। लेकिन बाक़ी फ़िल्में अच्छे विषयों पर बन रही हैं। ओएमजी फ़िल्में चल रही हैं इसका मतलब है कि दर्शक समझदार है।

**मीडिया का भी चेहरा बदला है। अब वैसे आलोचक कला पत्रकार नहीं मिलते।**

– देखिए मीडिया तो किसी भूमिका में है ही नहीं। निन्यानवे फ़ीसदी रिपोर्टिंग है, कोई आलोचनात्मक भूमिका नहीं है। आख़िर तक कोई रिपोर्टर नहीं रुकता। मुझे अच्छा नहीं लगता। आप बता ही नहीं रहे हैं कि क्या ख़ामी थी। लिख देते हैं कि ये हुआ। अच्छा किया। सेट भी अच्छा था। लाइट भी अच्छी थी। बड़ा मज़ा आया। लोगों ने ताली बजाई। प्रस्तुतिकर्ता और दर्शक के बाद मीडिया तीसरा पक्ष है लेकिन यह थर्ड एंगल ग़ायब है। थिएटर वालों से बात की। वे एक सत्र रखते हैं लेकिन नाराज़ी का ख़्याल कर कुछ बोलते नहीं हैं। इसकी वजह से गुणवत्ता गिरी है। ज़रूरी है कि कलाकारों का परिचय देने की जगह 15 मिनट का समय दर्शकों को देना चाहिए ताकि नाटक पर अपनी बात कह सकें।

**भोपाल में फ़िल्म सिटी की ज़रूरत महसूस करते हैं?**

–फिल्म सिटी बनाना जैसे फ़ैशन हो गया है। हर राज्य अपने यहाँ फ़िल्म सिटी बनाना चाहते हैं। वो जैसे किसी अच्छा दिखने वाले को कहते हैं ना कि तुम तो हीरो जैसे लगते हो तो क्या सभी अच्छे लगने वाले हीरो बनने चले जाएँ? आम जनता में कोई भी अच्छा दिखने वाला न रहे? यही सोच फ़िल्म सिटी के मामले में भी है। भोपाल अच्छा है तो इसे भोपाल रहने दो। यह मुंबई नहीं बन सकता। ठीक है कि फ़िल्म वाले आ रहे हैं। वे अपनी सुविधा के लिए आ रहे हैं। यहाँ सुविधाएँ मिल जाती है, कुछ नई लोकेशन हैं। सरकार और प्रशासन का सहयोग तथा कम दाम पर सहायक कलाकार मिल जाते हैं। मुंबई के क़रीब है। फ्लाइट मिल जाती है। लेकिन ज्यों ही ओवर एक्सपोजर होगा, वे अपना सामान समेट कर चल देंगे। मुंबई की बात अलग है। वहाँ स्टुडियो है। सेट लगाए जा सकते हैं। हम कितनी फ़िल्मों में कितनी बार ताजुल मसाज़िद, बड़ा तालाब, वीआईपी रोड दिखाएँगे? हर ज़िले में तो फ़िल्म सिटी नहीं बना सकते। जहाँ की जो ख़ासियत है, वहीं बरक़रार रहने दो। हाँ, भोपाल में अगर छोटा–मोटा टीवी का काम होता है तो वह करने दो। मैं फ़िल्म निर्माण में कोई भविष्य नहीं देखता कि फ़िल्म का कारोबार बढ़ेगा तो यहाँ का वातावरण बदलेगा या भोपाल का केरेक्टर कुछ अलग हो जाएगा। मैं समझता हूँ हम भोपाल को मुंबई नहीं बना सकते तो इसे भोपाल ही रहने दो।

**भोपाल की महिला रंगकर्म के बारे में क्या सोचते हैं? क्या महिला रंगकर्म ने भी समग्र थिएटर की तरह तरक़्क़ी की है?**

– यहाँ काफ़ी सक्रिय महिला रंगकर्मी हैं। एक ज़माना था जब हम ऐसा नाटक खोजते थे जिसमें महिला पात्र न हो या कम हो। लेकिन इन दिनों काफ़ी लोग काफ़ी अच्छा काम कर रहे हैं। लेकिन समस्या वही है कि पहले टीवी और फिर फ़िल्म की ओर जाना चाहते हैं। मैं समझता हूँ कि फ़िल्म और टीवी में जबर्दस्त प्रतिस्पर्धा है। आजकल कई कलाकार वन फ़िल्म वंडर साबित हो रहे है। टीवी पर शोषण बहुत ज़्यादा है। मुझे लगता है महिला रंगकर्मियों को स्थानीय स्तर पर जितना काम मिल रहा है, उसी में ख़ुश रहें और जो भी इच्छा है, उसे पूरा कर लें। हाँ, थिएटर से जुड़ी दूसरी चीज़ें मसलन, पोस्ट प्रोडक्शन, कॉस्ट्यूम, ग्राफिक्स, सेट आदि का काम, लेखन, स्टूडियो में एडिटिंग, निर्देशन आदि में अच्छे लोगो की बहुत कमी है। इसमें हाथ आज़माना चाहिए। अभिनय में बहुत सोच समझ कर जाएँ।

**क्या आपकी उड़ान देख कर रीताजी के मन में कभी ख़्याल नहीं आया कि वे भी फ़िल्म या छोटे पर्दे का रुख़ करें?**

– हमारे मन में भी वो उड़ान नहीं थी। मैं ख़ुद इस मूड में नहीं था। रीताजी वस्तुतः शिक्षा से जुड़ी हैं। उनका रुझान पढ़ाई अकादेमी में ज़्यादा है। हमारे बच्चे भी अलग प्रोफेशन में हैं। मैंने तो छोटे बेटे के लिए कोशिश भी की लेकिन वह नहीं आया। ये तो अपनी पसंद की बात है। थिएटर में हमारे घर के सभी सदस्य शौक़ीन हैं।

**भादुड़ीजी जैसे ससुर और अमिताभ बच्चन जैसे साढू का आपके कॅरियर पर क्या फ़र्क़ पड़ा? इसे सकारात्मक मानते हैं या नकारात्मक?**

– भादुड़ीजी अलग व्यक्ति थे। उनसे बहुत कुछ चीज़ें पाई और सीखी हैं। उनका मेरे बड़े बच्चे पर बड़ा प्रभाव रहा है। बाक़ी कुछ भी नहीं है। कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा। जो भी फ़र्क़ पड़ा वो भी कोई मायने नहीं रखता। मैं तो समझता हूँ नकारात्मक ही है।

**भविष्य के लिए क्या योजनाएँ बनाई हैं?**

– बहुत जल्दी भोपाल में उतना समय गुज़ारूँगा जितना मुंबई में गुज़ार रहा हूँ। यह बहुत दिनों से कह रहा हूँ लेकिन कर नहीं पा रहा हूँ। वहाँ केवल काम की ज़रूरत जितना समय ही गुजारूँगा। थिएटर में पूरी तरह से इन्वॉल्व रहना चाहता हूँ। प्रोफेशन के लिए एक–दो बड़े प्रोजेक्ट करता रहूँगा। ये मेरी भविष्य की योजना है। हर किसी को अपना शहर अच्छा लगता है। इसी में सुख आनंद लेना चाहता हूँ।

**कोई स्क्रिप्ट है जिस पर काम करना चाहते हैं?**

– मेरे पास दो प्ले हैं। बादल सरकार का 'कवि कहनी'। हालाँकि बहुत पहले लिखा हुआ नाटक है लेकिन अच्छा व्यंग्य है। इस पर बहुत पहले काम शुरू किया था लेकिन कर नहीं पाया। दूसरा नाटक रीवा के लेखक योगेश त्रिपाठी का 'मुझे अमृता चाहिए' है। यह भोपाल में हो चुका है लेकिन मुझे बहुत प्रिय है। कुछ कहानियाँ पढ़ रखी हैं। उम्मीद है उन पर काम कर पाऊँगा।

● ● ●

**साहित्य को वर्ग में तो नहीं बाँटना चाहिए। जब मैं किताब को पढ़ती हूँ तो किताब पढ़ती हूँ। मैं तो अपनी जिज्ञासा को पढ़ने जाती हूँ। समाज में समस्या है दलित का प्रश्न प्रमुख है, स्त्री मुक्ति का प्रश्न प्रमुख है। यह समाज का प्रश्न है इसे उठाकर जब हम साहित्य में ले आते हैं तो साहित्य को परखने का जो बुनियादी मापदंड है उसके साथ खिलवाड़ करते हैं। मैं एक स्त्री हूँ तो स्त्री की तरह ही लिखूँगी। पुरुष अपने अनुभव से लिखेगा।**

# उत्कृष्टता पत्थर की लकीर नहीं

गगन गिल

**पंकज शुक्लाः** भोपाल की ख्याति गैसकांड के बाद भारत भवन के कारण भी है। आप कलाओं के इस घर की इस लंबी यात्रा की परोक्ष-अपरोक्ष रूप से साक्षी रही हैं। आपको आज भारत भवन की गतिविधियाँ कैसी लगती हैं?

**गगन गिलः** लोकतंत्र में 'चेक और मेट' ज़रूरी है। कोई भी अराजक हो सकता है शासक भी और प्रशासक भी। लोकतंत्र का स्वरूप ही ऐसा है कि कार्यों की निगरानी आवश्यक है ताकि कोई भी व्यक्ति अपने ही निर्णय को अंतिम न मान ले। मुझे याद है कि अशोक वाजपेयी के समय भी विवाद उठते थे। उन पर मनमानी के आरोप लगते थे कि एक समूह को बुलाया दूसरे को नहीं बुलाया। इधर के वर्षों में यहाँ क्या हो रहा है इसकी मुझे जानकारी नहीं है लेकिन मेरा मानना है कि भारत भवन जैसी संस्थाएं हमारे समाज में सांस्कृतिक द्वीप की तरह हैं। हमें कृतज्ञ होना चाहिए कि सार्वजनिक ढंग से बनी हुई ऐसी संस्थाएँ हैं जहाँ ऐसे कुछ स्वप्न संभव हुए हैं। अगर इन संस्थाओं को छोड़ दें तो हमारे पास ऐसी जगह है ही नहीं जहाँ हमारी चेतना विकसित हो सके। एक लेखक के बतौर कह रही हूँ कि भारत भवन को मध्यम मार्ग में ही चलाया जाना चाहिए। ऐसी किसी संस्थान की स्वायत्ता पर राजनीतिक या विचारधारा के कब्ज़े की कोशिशें हों तो विरोध होना चाहिए। हमारे समाज में ही बहुभाषा, बहु संस्कृति है, वह इन संस्थानों में भी होना चाहिए।

**ऐसे संस्थानों के संचालन में विचारधारा का संघर्ष बड़ा संघर्ष बन कर सामने आता है।**

– संस्कृति का जीवन में सबसे ज़्यादा आग्रह उत्कृष्टता का होना चाहिए विचारधारा का नहीं। हमारे यहाँ होता यह है कि जो विचारधारा आ जाती है उसके निकम्मे लोगों को भी उत्कृष्टता को दरकिनार कर खपाया जाता है जबकि सम्मान उत्कृष्टता का होना चाहिए। उत्कृष्टता चाहे किसी भी विचारधारा की हो, ज़रूरी नहीं कि मैं उससे सहमत हूँ लेकिन अगर वह उत्कृष्ट है तो उसमें ज़रूर ऐसी बहुत सी चीज़ें होंगी जो मुझे सीखने को प्रेरित करेंगी।

**दिल्ली को भी तो साहित्य की मंडी कहा जाता है; वहाँ भी तो यही लड़ाई है?**

– मेरा मत हर जगह के लिए यही है। हम उन जगहों पर अधिकार से बात कर सकते हैं जो शासन पोषित हैं। व्यक्तिगत संस्थानों पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। हम उत्कृष्टता को मंच देंगे तभी तो उन लोगों को संदर्भ बिन्दु मिलेगा जो उत्कृष्टता की तैयारी में हैं। उत्कृष्टता कोई पत्थर की लकीर नहीं है यह तो लचीली होती है। जो लचीलापन उत्कृष्टता में है वह लचीलापन हमारी मनीषा में भी तो होना चाहिए।

**क्या आपको नई पीढ़ी में उत्कृष्टता के लिए यह जिजीविषा नज़र आती है?**

– मेरा सवाल यह है कि किसी नए लेखक को हम नोटिस कब करते हैं? तब जब वह उत्कृष्ट दिखाई दे। जब तक उसमें चमक न दिखाई दे तब तक वह अदृश्य ही रहता है। हम एक दिन में तो यहाँ नहीं पहुँचे। हमने भी वर्षों लगाए हैं, काग़ज़ फाड़-फाड़ कर फेंके हैं। हर लेखक जितना छपता है उससे कहीं अधिक लिखता है। नए लेखक रेखांकित ही तभी होते हैं जब कुछ अलग बात दिखाई दे। जो लोग पहले से ऐसे हैं उनकी ज़िम्मेदारी है कि वे ऐसा माहौल बनाएँ।

**क्या आप ऐसा माहौल पाती हैं, जो उत्कृष्टता का पल्लवन करें?**

– आदर्श माहौल तो कभी नहीं होता। यह तो प्लेटो के ज़माने में भी नहीं था। हर समय अपने को दूषित करता है और परिशुद्धि भी करता है। हर समय की यह चुनौती है कि वह अपने इस दूषण को भी पहचाने और अपने उस गुण को भी पहचाने जो दूषण से परिशुद्धि की राह बताता है।

**आपने जब लिखना शुरू किया था तब से आज में कितना परिवर्तन आया है? अभी का समय ज़्यादा चुनौतीपूर्ण है या बेहतर है?**

– ज़्यादा कम कुछ भी नहीं। बस ये है कि समय के साथ संदर्भ बिन्दू बदल जाता है। उसकी चुनौती अलग हो जाती है। अब जैसे राजनीति की बात करें तो कोई कहता है कि अंग्रेज़ों का समय अच्छा था तो ऐसी बात भी नहीं है; हर समय का अपना चैलेंज होता है।

**आंकड़े बताते हैं कि किताबें ज़्यादा छप रही हैं दूसरी तरफ़ कहा जाता है कि पढ़ने वाले नहीं हैं। यह विरोधाभास कैसा? क्या वाकई में ऐसी स्थिति है?**

– आप भी जानते हैं कि वास्तव में ऐसी स्थिति नहीं है। एक चीज़ जिस पर विश्व भर में अब तक काम नहीं हो पाया है वह यह पता लगाना है कि छपी हुई किताब और बिकने वाली किताब में कितना अंतर है। यह जानने की कोई तकनीक आ जाए कि किताबें कितनी छपीं और कितनी बिकीं तब तो इस बात को देखा जा सकता है। तब ही इन तथाकथित वक्तव्यों का कि किताबें बढ़ गई हैं, कि पढ़ने वाले घटे हैं निपटारा हो सकता है। मैंने भोपाल का नॉवेल्टी बुक हाउस देखा है। दिल्ली में तो ऐसी कोई दुकान नहीं दिखाई दी। बहुत दिनों बाद ऐसा सुखद अनुभव मिला जहाँ किताब को देख कर छू कर तय कर सकती हूँ कि क्या लेना है। इतनी बड़ी दुकान देख कर ही लगता है कि वह दुकान घाटे में तो नहीं चल रही है। इस दुकान को लाभ में लाने के लिए कुछ तो पाठक आते ही होंगे।

**लेखक और प्रकाशक का रिश्ता किस रूप में देखती हैं?**

– मेरा अनुभव इतना तो कहता है कि यह मामला इतना स्याह-सफ़ेद नहीं है। सवाल तो यही कि परिस्थिति इतनी उलझी है कि इस स्थिति को नियंत्रित करने के उपाय समझ नहीं आते। अगर लेखक प्रकाशक की बात की जाए तो लेखक ही मैले कपड़ों में दिखेगा प्रकाशक नहीं दिखेगा। प्रकाशक तो सबके सब सफेद कपड़ों में हैं। लेखक का कपड़ा उजला है और है तो कितना है ये सिद्ध करने का कोई तो तरीका होना चाहिए।

**साहित्य को खेमों में बांटा गया है। महिला साहित्य भी एक भाग है। आपकी क्या राय है कि क्या इस वर्गीकरण ने साहित्य को नुकसान पहुँचाया या महिला साहित्यकार को आगे लाने में सहायता की?**

– साहित्य को वर्ग में तो नहीं बाँटना चाहिए। जब मैं किताब को पढ़ती हूँ तो किताब पढ़ती हूँ, मैं दलित को पढ़ने नहीं जाती; न किसी महिला को पढ़ने जाती हूँ। मैं तो अपनी जिज्ञासा को पढ़ने जाती हूँ। समाज में समस्या है दलित का प्रश्न प्रमुख है, स्त्री मुक्ति का प्रश्न प्रमुख है। यह समाज का प्रश्न है इसे उठाकर जब हम साहित्य में ले आते हैं तो साहित्य को परखने का जो बुनियादी मापदंड है उसके साथ खिलवाड़ करते हैं। मैं एक स्त्री हूँ तो स्त्री की तरह ही लिखूँगी। पुरुष अपने अनुभव से लिखेगा। आपकी कल्पना होगी उससे

कभी छूटेंगे, कभी बंधेगे लेकिन यह दुधारी तलवार है। मेरी कल्पना मेरे स्त्री होने से सूचित भी होगी और सीमित भी होगी। मुझे दोनों ही चीज़ें रखना होंगी। मुझे स्त्री बन कर लिखना भी है और लिखते हुए स्त्री से मुक्त भी होना है। यही मैं दलित लेखन साहित्य के लिए भी कह सकती हूँ। अपने कई बड़े से बड़े भक्त कवियों को देख लीजिए। उनमें से कई दलित समाज से आए हैं लेकिन क्या हम उन्हें दलित समाज के कारण याद करते हैं? नहीं हमें उन्हें आवश्यक रूप से उनके काव्य तत्व के कारण याद करते हैं। आज हम कबीर जैसे व्यक्ति को क्या एक जुलाहे के रूप में सीमित कर सकते हैं? नहीं कर सकते हैं। अगर हम इतनी 'ट्वीस्टेड इमेजिनेशन' से यह सब करेंगे तो हम कबीर के प्रति अन्याय नहीं कर रहे बल्कि एक बड़ी गैर ज़िम्मेदाराना चीज़ कर रहे हैं।

**एक दौर था जब कविताएँ याद हो जाती थीं। कविता नारा होती थीं। लेकिन आज ऐसा नहीं दिखाई देता।**

– महान कविताएँ रोज नहीं लिखी जायेंगी। पूरा इतिहास उठा कर देख लीजिए अगर मध्ययुगीन कविता का इतिहास पढ़ना है तो एक दो ही पढ़ाए जाएँगे। ऐसा तो नहीं है कि कबीर के दौर में और कोई लिखता न होगा या बोलता न होगा; या गाता न होगा। कौन सी कविता नारा बनेगी? कविता की मुक्ति नारा बनने में नहीं है। पहली बात तो यह है कविता एक अलग चीज़ है लेकिन महानता को भी साधारणता का पड़ोस चाहिए होता है। महानता अपने अकेलेपन में संभव नहीं है। वो बहुत सारी साधारण चीज़ों के साथ रह कर पकेगी। फिर एकदम से ऊँची हो जाएगी। हम लोगों को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि हमारे फंडामेंटल क्लीयर हैं या नहीं। वो कविता ही क्या जो आपसे भिखारी होने की मांग न करें। कला और संगीत के देवता के पास तो आपको अपनी पोटलियाँ छोड़ कर ही जाना पड़ेगा। जब हम उस तरह की तैयारी ही नहीं कर रहे हैं, इस तैयारी की मोहलत हमारा समाज भी नहीं दे रहा तो ये द्वंद्व तो है। जितना मैंने समझा हर लेखक अपने में करता है एक समय में पोटलियाँ बाँधता है और एक समय में पोटलियाँ फेंकता है। जो ये कर लेते हैं ये अपनी नियति दूसरी तरफ़ कर लेते हैं जो नहीं कर पाते उनके बारे में हम जानते हैं।

**इतनी लंबी साहित्यिक यात्रा में आपकी रचना प्रक्रिया में क्या अंतर आया है?**

– पहले चीज़ें मुझे बाँधती थीं। मेरे पहले संग्रह को स्त्री चेतना के वर्ग में रखा तो इसका कारण है कि किताब स्त्री चेतना की बात कर रही थी। वे चीज़ें स्त्री रूप में लेखिका को परेशान करती थीं, बाँधती थीं, छूटने को बैचेन करती थीं। इन 25-30 सालों में मेरा जीवन भी तो मेरे साथ चला है। मेरे जीवन ने भी तो मेरी परीक्षाएँ ली हैं। परीक्षा देकर निकल आई हूँ तो डरने की जगह कम है। अंतर पाती हूँ कि मैं अब धीरे-धीरे मुक्त हो रही हूँ। मुझ पर बाहरी दबाव कम आता है। मेरी जिज्ञासा तो हमेशा से आंतरिकता से जुड़ी हुई रही अभी भी मेरा विषय व्यक्ति की मुक्ति की आकांक्षा में ही रहा है। लेकिन अब इसमें समाज का दबाव नहीं है जो कुछ भी मेरे लेखन में तनाव है वो मेरे होने का तनाव है।

**क्या इसे व्यक्तिगत विकास कहना चाहिए।**

– जिज्ञासा ही कहूँगी। हमें पृथ्वी पर अपने होने का लक्ष्य कभी न कभी खोजना चाहिए।

**साहित्य का लक्ष्य भी यही होना चाहिए?**

– साहित्य ही नहीं हर जीवन का यह लक्ष्य होना चाहिए। बहुत से लोग होंगे जिनका जीवन साहित्य के बिना भी अर्थपूर्ण होता है। यह कहना कि साहित्य ही हमें अर्थ देता है ठीक नहीं है। मनुष्य ने अपने दिमाग के साथ ऐसी भी विधाएँ बनाई हैं जहाँ शब्द का इस्तेमाल ही नहीं करता। आप किसी अच्छे संगीत को सुन कर देख लीजिए, वह दस मिनट में मुक्त कर देता है। ऐसा तो नहीं है कि अपने होने का अर्थ शब्द में ही छिपा है। मेरे मौन में भी तो मेरे होने का अर्थ छिपा हो सकता है। आखिर चिड़िया भी तो अपने बच्चे को कोई अर्थ देती होती है।

**मेरा सवाल एक है लेकिन मैं दो उत्तर चाहता हूँ। आप पर किसका प्रभाव रहा? आपके व्यक्तित्व और आपके लेखन पर।**

– (लंबी ख़ामोशी के बाद)- मेरे पिता का। वे बड़े विद्वान थे। बहुत चुप रहते थे; कभी-कभी हमें कहानी सुनाते थे; ज़्यादातर महाभारत में से सुनाते थे। मैं समझती हूँ कि बाद के जीवन में जिन भी लोगों के संपर्क में आई और इस मामले में बहुत भाग्यशाली हूँ कि महान लोगों के साधारण संपर्क में रही। इनमें से मैं नाम

ले सकती हूँ गोविंदचंद्र पांडे, दयाकृष्णजी, अमृता प्रीतम। निर्मलजी तो थे लेकिन जिसने सबसे गहरा प्रभाव डाला जिसे पिता जैसा ही कह सकते हैं रबीन्द्रनाथ टैगोर। अगर किसी उम्र के बाद कोई लड़की यह कह सकती है कि मेरे दो पिता हैं तो मैं टैगोर को दूसरा पिता कहूँगी। मानस पुत्री के मानस पिता। मैंने अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ा लेकिन जब मैंने टैगोर को पढ़ा तो लगा कि इतने परिपूर्ण व्यक्ति में से भी क्या साहित्य निकल सकता है? हम अपना अधूरापन लिखकर पूरा करते हैं। एक तरफ हमें टॉलस्टाय पसंद हैं। उनके यहाँ बहुत डार्क कैरेक्टर हैं। नकारात्मकता का चरम। उस अंधेरे में से महान साहित्य कैसे निकलता है यह टॉलस्टाय में देखा। टैगोर में कोई डार्कनेस नहीं है। अगर नकारात्मक नहीं हैं तो वे कैसे बुनते हैं? साहित्य को तो दो शेड चाहिए। उनके यहाँ मनुष्य मन का छोटापन कंट्रास्ट बनता है।

**और निर्मलजी...**

– (बीच में ही रोकते हुए....) निर्मलजी पर मुझसे बात मत करवाइये। मुझे लगता है कि कुछ चीज़ें व्यक्तिगत रूप में रहनी चाहिए।

**लेकिन एक पाठक के बतौर आपने निर्मलजी को कैसे पाया?**

– निर्मलजी तो ख़ुद ही बच्चे ही थे। मुझे लगता है कि इतना बाल सुलभ रहने के लिए बहुत तपस्या करनी पड़ती है। क्योंकि जीवन हमें 2–3 साल की उम्र से बड़ा बनाने लगता है। वयस्क होने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता। वयस्क तो आपका जीवन 3 साल के बाद कभी भी बना देगा लेकिन आप बच्चे बने रहें इसके लिए आपको हर दिन मेहनत करनी पड़ेगी। हर दिन जो चोट आपने खाई उसको मिटाना पड़ेगा, भूलना पड़ेगा। क्योंकि चोट दिमाग को लगती है। वो जो एक निश्छल मस्तिष्क है उसे सृजित नहीं कर सकते। वो एक काउंटर पार्ट की तरह ही आएगा। यह तभी आएगा जब मैं बहुत निर्ममता से अपने ईगो की सफ़ाई करती हूँ; क्योंकि मेरी लिखाई–पढ़ाई ईगो को बनाने का काम करती है और यह संसार ईगो पर चोट करता है। मुझे ईगो की भी सफ़ाई करना है और चोट की भी सफ़ाई करना है। यह काम निर्मलजी आसानी से कर लेते थे।

**एक अंतिम सवाल। इन दिनों भारतीय लेखक अंग्रेज़ी में काफ़ी लिख रहे हैं?**

– मेरे लिए अंग्रेज़ी भाषा में लिखा साहित्य भी अलग नहीं है। हम इतनी खिचड़ी भाषा समय में रह रहे हैं कि यदि कोई अंग्रेज़ी में लिखना चाहता है तो लिख ले। अंततः उसके लिखे को जब मापा जाएगा तो इससे नहीं कि किस भाषा में लिखा है बल्कि इसका मानदंड होगा कि क्या लिखा है।

● ● ●

**नाटक में कोई नियम नहीं होता। नाटकों में समय के साथ परिवर्तन होता है और टेक्नॉलॉजी का उपयोग भी होता है। नाटक का अपना अनुशासन होता है, अपनी ज़रूरतें होती हैं, प्राथमिकताएँ भी। आधुनिकता का खुलकर इस्तेमाल हो, भला इसमें क्या हर्ज़ है। नाटक तो प्रयोगधर्मी होता है। प्रयोग से ना डरें। लेकिन सतर्क भी रहें।**

# महत्वाकांक्षाओं से लदा है रंगमंच

संजय उपाध्याय

बचपन से ही संगीत के प्रति रुझान था और लोकगीत तथा भजन गाया करता था। संगीत के संस्कार मुझे मेरे दादा और पिता से मिले। रंगमंच में आने के बारे में तो मैंने सोचा भी नहीं था। बचपन में संगीत के साथ फुटबॉल खेलने का शौक़ था। मुझे इतना पता है कि अगर मैं रंगमंच में नहीं आता तो फुटबॉल खिलाड़ी ही होता। ख़ैर, नाटक की शुरूआत स्कूल से ही हुई। बतौर अभिनेता मेरा पहला नाटक जगदीश चन्द्र माथुर का लिखा 'कोणार्क' था। उस समय मैं दसवीं में था। यहीं से मेरे जीवन की वह राह निकली जिस पर मैं अब भी चल रहा हूँ। मुझे तब बहुत प्रोत्साहन मिला और मैंने तय किया कि यही वह जगह है जहाँ मैं अपनी भावनाओं को व्यक्त कर सकता हूँ। इसके बाद मैं एक नाट्य संस्था 'अनागत' से जुड़ा जहाँ से प्रोफेशनल काम शुरू हुआ। कॉलेज के दिनों में इप्टा से भी जुड़ा, ये लगभग सन् 80-85 के बीच की बात है। देशभर में गाँव-गाँव घूमे, नुक्कड़ नाटक किये। और सन् 85 से 86 में मैंने बिदेसिया नाटक किया। संजय बताते हैं ये उनका ख़ुद का तैयार किया पहला नाटक था। 70-75 लोगों की एक बड़ी टीम के साथ ये नाटक किया था। इसके बाद 87 में एन.एस.डी. में मेरा चयन हुआ और मैं नाटक के बारे में और सीखने एन.एस.डी. चला गया। जब मैं छुट्टियों में आता था तब एन.एस.डी. में सीखी बातों को अपने काम में लाने की कोशिश करता था। एन.एस.डी. से निकलने के बाद अपनी एक संस्था 'निर्माण कला मंच' बनायी और कई प्रोडक्शन तैयार किये और ये काम आज भी चल रहा है। जहाँ तक बिदेसिया का सवाल है तो यह मूलतः गायिकी प्रधान शैली थी, गायन की परंपरा थी। इसमें विस्थापन का दर्द है। ये नायिका के विरह का गायन है। इसकी उत्पत्ति को लेकर अलग-अलग कथन हैं। ये लगभग 1857 के बाद की बात है, अंग्रेज़ों के समय में दिल्ली में एक 'सुंदरी' नाम की नायिका थी। बहुत बड़ी गवैया थी। लोग उसके मुरीद थे। अंग्रेज़ों ने जब दिल्ली पर आक्रमण किया तब 'सभी ने दिल्ली को छोड़ा और सुंदरी दिल्ली से भागकर मिर्ज़ापुर चली आयी और वहाँ से बनारसी प्रसाद की एक कहानी है 'गुण्डा' उसमें जिस पहलवान की चर्चा है शायद वही पहलवान होगा जिससे उसने प्रेम किया होगा। उस लड़के को काला पानी की सज़ा हो गयी। उसी की याद में वह गाया करती थी-

'नागर नैया जाला काला पनिया से हरी'। वो कजरी गाती थी। इसके बाद फिर वह अंग्रेज़ों के कारण मिर्ज़ापुर और फिर बिहार आ गयी। उसने अपनी एक कम्पनी बनायी जिसमें वह बिदेसिया गाना गाती थी।

इसके अलावा बिहार में भिखारी ठाकुर हुए वो बिहार से कलकत्ता आदि घूमते थे और नौटंकी देखते थे। तभी उन्होंने सुंदरी को देखा सुना होगा, चूंकि इसमें गायन के साथ नृत्य भी है जिससे यह भिखारी ठाकुर को भाया और उन्होंने बिदेसिया एक नाटक ही लिख दिया। 'बिदेसिया' उसी शैली का विरह प्रधान नाटक। इस तरह भिखारी ठाकुर ने इसकी पूरी कथावस्तु तैयार की। उन्होंने इसमें बटूही नाम का एक चरित्र डाला जिसे नायिका नायक को खोजकर लाने को कहती है। उन्होंने नाटक में गायन की शैली पूर्वी रखी।

हमारे यहाँ (बिहार) एक नृत्य होता है। लोण्डा नाच, जिसमें पुरुष नर्तक होते हैं तथा जिसे नटुआ जाति वाले करते थे। उस नाच की परंपरा, गायन की परंपरा और नाटक इन तीनों के मिश्रित स्वरूप से भिखारी ठाकुर ने नाटक तैयार किया और यह बिदेसिया नाटक होते-होते एक शैली ही बन गया। भिखारी ठाकुर के बाद इसकी चर्चा ख़त्म हो गयी। छुट-पुट मण्डलियाँ ही इसे करती रहीं। जितनी चर्चा इसे मिलनी चाहिए थी उतनी नहीं मिली। लगभग 10-20 साल बाद मैंने इसे अपने तरीक़े से किया। जिसमें तमाम आधुनिक रंगमंच प्रविधियों को मैंने डाला। शुरू में जब बिदेसिया किया तो 3 घंटे का होता था। बहुत, बहुत एडिट किया लगभग छः सौ मंचन करने के बाद अब मैं इसे डेढ़ घंटे का बना पाया। पिछले 30 वर्षों में मैंने बिदेसिया को लेकर ढेरों प्रयोग किये, अलग-अलग संगठनों में पढ़ाया, जितना हो सके आधुनिक दृष्टिकोण दिया आज भी वो रेलेवेन्ट है। उसकी डिमाण्ड अब भी बहुत है। मेरा वह सिग्नेचर प्ले है।

रंगमंच पर इसे लेकर आने के पीछे उद्देश्य बचपन से ही लोकसंगीत के प्रति लगाव था। जैसे ही मुझे बिदेसिया की पाण्डुलिपि मिली, इसके छन्द पढ़कर लगा कि ये मेरा अपना है। यही तो मैं बचपन से गाता आ रहा हूँ। मुझे लगा कि इसमें रंगमंच की सारी संभावनाएँ हैं। नृत्य, अभिनय, गायन, कहानी और चरित्र चित्रण तो ज़बरदस्त है। लोक नाट्य की परंपरा में ये नाटक फिट बैठता है और भाषा भी भोजपुरी है जिससे मैं अच्छी तरह परिचित हूँ। इसके माध्यम से रंगमंच की भाषा भी गढ़ सकते हैं। इन सभी के साथ भिखारी ठाकुर की लोकप्रियता। यह नाटक एक काव्यात्मक रूपक की तरह था। मैंनें इसे अपने तरीके से एडिट किया। इसमें तरह-तरह के शिल्प थे, स्ट्रक्चर थे, बहुत लोच और प्रयोगात्मकता थी। इसलिये मेरा रुझान इसकी ओर हुआ। मुझे हतोत्साहित भी किया गया। लेकिन मेरे अन्दर एक ज़िद थी कि इसे करना ही है। और मैंने तो कभी सोचा ही नहीं था कि इस नाटक से इतनी प्रसिद्धि मिलेगी, बस मन के कोने में यही एक बात थी कि इसे लेकर दूर तक जाया जा सकता है, और वो बात सही निकली। कभी-कभी लगता है बस यही खोज रहा था और वो मिल गया। ये सब अचानक हुआ, अलग से कुछ प्लानिंग नहीं थी।

किसी भी नाट्य शैली या नाटक को जब हम प्रस्तुत करते हैं तो वह हर बार एक आधुनिकता के साथ खड़ा होता है और आधुनिक परिप्रेक्ष्य में हम उसमें वही रेलेवेन्सी ढूँढते हैं जिससे हम उससे जुड़ सकें। विस्थापन एक बहुत बड़ी समस्या है। आज लोग विस्थापित हैं घर में रहते हुए भी, मित्रों से बात करते हुए भी। उस वक़्त मैं बस इसी बात पर ध्यान केन्द्रित कर रहा था। इस नाटक में बारहमासा का वर्णन है। नायिका के विरह का बहुत बड़ा आख्यान है। मैंने बस इसी पर फोकस किया। बारह राग-रागिनियों में पिरोते हुए। चूँकि इस गायन शैली में एकरसता है, रात-रात भर गाने वाली उस एकरसता को मैंने तोड़ा। जहाँ तक आधुनिकता की बात है तो व्यथा विस्थापन एक रेलेवन्ट सब्जेक्ट है। उस वक़्त भी था आज भी है। किसी भी शैली के साथ छेड़-छाड़ नहीं होनी चाहिए और कहा ही गया है कि परंपरा में तैरना चाहिए डूबना नहीं चाहिए। हमने भी तैरने की कोशिश की है। अगर हम डूबते तो आत्महत्या-सी हो जाती। यह भी है कि जैसा भिखारी ठाकुर करते थे यदि मैं भी वैसा ही छाप देता तो भी ये वहीं पर मर जाती। एक शैली को जब तैरने के लिए खुला छोड़ते हैं तब बहुत सारी संभावनाएँ उसमें जन्म लेती हैं। आज भी जब मैं बिदेसिया करता हूँ तो वो मेरे लिये नया होता है। शायद यही वजह है जिससे उस नाटक में इतनी शक्ति है जो अब भी ऊर्जा से भर देती है।

सतर्कता की बात जहाँ तक है तो नाटक में कोई नियम नहीं होता। नाटकों में समय के साथ परिवर्तन होता है और टेक्नॉलॉजी का होता है। स्वाद बना रहे पर उससे भूख नहीं मिट सकती। उसी तरह नाटक का अपना अनुशासन है, अपनी ज़रूरतें हैं, प्राथमिकताएँ हैं। आधुनिकता का खुलकर इस्तेमाल हो। नाटक तो प्रयोगधर्मी होता है, प्रयोग से ना डरें। लेकिन सतर्क भी रहें। जो हमेशा ऊँचाई पर ले जाए, एक स्तर से अगले

स्तर पर ले जाये जो प्रयोजनमूलक हो। हाँ...। जो बात संभव नहीं है उसे टेक्नॉलॉजी के सहारे किया जा सकता है। कहीं भी परहेज़ नहीं होना चाहिए। मैं इतना फण्डामेन्टलिस्ट नहीं हूँ। नाटक में सब है। ये प्योर आर्ट नहीं है और हो भी नहीं सकता। इसमें अगर आधुनिकता का इस्तेमाल हो रहा है, मल्टीमीडिया थियेटर हो रहा है तो उसे सराहा जाना चाहिए। लेकिन उसकी आत्मा नहीं मरनी चाहिए या जैसा लोग कहते हैं, उसकी ख़ुशबू ख़त्म नहीं होने देना चाहिए।

जब मैंने अपनी रंगयात्रा का पहला क़दम बढ़ाया तब इतना एक्सपोज़र नहीं था। हम नाटक के प्रमोशन का काम घर-घर जाकर करते थे, महीनों रिहर्सल करते थे। जो प्रतिबद्धता तब थी, वह अब नहीं है। उस वक़्त जो जुनून थियेटर के प्रति था वह अब नहीं मिलता। पूरे देश में रंगमंच की यही स्थिति है। परिस्थितियाँ तो बदली ही हैं और अब लोगों की मानसिकता में भी अंतर आया है, अपेक्षाकृत महत्वाकांक्षा बढ़ गई है। सभी आज रंगमंच से जुड़ते हैं और उन्हें लगता है सिनेमा में चले जायें। आज 1-2 साल में ही उनमें सब्र नहीं रह जाता। ये सारी स्थिति हिन्दी रंगमंच के साथ है।

जिसके पास प्रतिभा नहीं होती वह भी गंभीरता से यदि प्रशिक्षण ले तो एक ख़ास तरह की प्रतिभा को अर्जित कर सकता है। लंबी पारी खेलने के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता तो होती ही है। बिना प्रशिक्षित हुए किसी भी क्षेत्र में अच्छा काम नहीं किया जा सकता। फिर रंगमंच इतना आसान भी नहीं। क्यों कोई आम आदमा टिकट लेकर आपका नाटक देखेगा जब तक आपके भीतर कुछ ख़ास नहीं होगा। मैं अपवाद की बात नहीं कर रहा, आज ऐसे भी लोग हैं जो एन.एस.डी. से पास होकर कुछ नहीं कर रहे और ऐसे भी हैं जिन्होंने वर्षों साधना की और अच्छा काम कर रहे हैं किन्तु वे अपवाद हैं।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा आयोजित भारत रंग महोत्सव भारतीय रंगमंचीय दुनिया में हर साल एक उत्सवी लहर लेकर आता है। आधुनिक भारतीय रंगमंच में इस समय अमूर्त प्रयोगों की बाढ़-सी आई है या यूँ कहें कि ये लादे जा रहे हैं, जिससे भारतीय रंगमंच कुछ-कुछ आहत हो रहा है। संजय इस पर असहमती जताते हुए इन प्रयोगों को थियेटर को आगे बढ़ाने की सीढ़ी मात्र मानते हैं। उनका कहना है प्रयोग के स्तर पर या पोस्ट मॉडर्निज्म के नाम पर इमेज़ेस में, बिम्ब में काम किया जा रहा है। थियेटर से संवाद गायब होने लगे हैं। यदि कोई नाटक दिल को छू रहा है, उससे कुछ मिल रहा है तो उसे स्वीकार करने में कोई बुराई नहीं है। अगर प्रयोग अच्छा है तो उसे सराहा भी जाता है और यदि नहीं तो ख़ारिज भी किया जाता है। नाटक एक डायरेक्ट मीडियम है, लोगों के द्वारा उसे तुरन्त रिस्पांस मिलता है। जिस तरह से ख़ास वर्ग के लिये ख़ास फ़िल्म होती है उसी तरह ख़ास वर्ग के लिये ख़ास नाटक। आम जनता का उससे कोई सरोकार नहीं होता। इन्हीं सब में कुछ नाटक ऐसे भी होते हैं जो अपने सिद्धांतों को साथ लिए होते हैं। जिन्हें आम दर्शक सराहते हैं।

यह सभी जगह है, सिर्फ़ भारत में ही नहीं। हाँ इतना ज़रूर है कि सिनेमा के मुताबिक़, विश्व रंगमंच स्तर के मुताबिक़ भारतीय रंगमंच पिछड़ा हुआ है इसलिये क्योंकि उसमें नुक्ताचीनी ज़्यादा है। प्रयोग करने पर दस विरोध करते हैं। मेरा सोचना है कि काम में खुलेपन की ज़रूरत है। बहुत स्कोप हैं प्रयोग के। तैरने देना चाहिए। शायद हम जिस पिछड़ेपन की बात कर रहे हैं वह इसे मिले। यह टिपिकल स्टेटमेंट कि रंगमंच मर रहा है, यही इसे पीछे ले जा रहा है। जबकि हमारा उद्देश्य इसे आगे ले जाना है। थियेटर वही है जो समाज को गति दे, आंदोलित करे, बेहतर समाज की कल्पना करे। भारतीय रंगमंच को अभी और आगे बढ़ना है, अभी तो हम शैशवावस्था में हैं। हम सभी इस दौड़ में 30 से 40 साल पीछे हैं। हमें वहाँ तक दौड़कर पहुँचना है। इसके लिए खुलकर प्रयोग करने चाहिए। यह डर नहीं होना चाहिए कि इससे हम आहत होंगे।

दुर्भाग्य से अख़बारों में नाटक की आलोचना गुम है। अखबारों में तो सिर्फ़ खबर छपती है। नाटक की ठीक समालोचना के लिये आवश्यक है कि कोई रंगकर्मी, जानकार दर्शक या प्रशिक्षित व्यक्ति ही नाटक पर टिप्पणी करें। इसके लिए विधिवत ट्रेनिंग आवश्यक है। नाट्य विद्यालयों में इससे संबंधित विषय होना चाहिए। स्वस्थ आलोचना के लिये रंगकर्म से जुड़े, अच्छी समझ रखने वाले लोगों का इस क्षेत्र में आना आवश्यक है। म.प्र. रा. ना. वि. का वर्ष 2011 में नाट्य प्रशिक्षण संस्था के क्षेत्र में नवांकुरित बीज के रूप में उदय हुआ है। एन.एस.डी. की तर्ज़ पर इसके उद्देश्यों, आयामों को वे साझा करते हैं- शुरुआती दौर में किसी भी संगठन की अपनी मौलिकता होती है। एन.एस.डी. बड़ी संस्था है। एशिया का एकमात्र बड़ा संगठन है। हम अभी शुरुआती दौर में हैं। अभी तो वृक्ष बनना है। छात्र बाहर निकलकर क्या रिजल्ट देते हैं, तब देखेंगे। अभी तो सिर्फ़ काम करना है। एस.एस.डी., एन.एस.डी. से बिल्कुल अलग है क्योंकि हम हिन्दी केन्द्रित

नाटक कर रहे हैं। हमारी अभिव्यक्ति का मूल स्वर हिन्दी ही है। इसके अलावा हमारा लक्ष्य लोक शैली भी है। दूसरा, हमारा रंगमंच घूमन्तु रंगमंच है। हम थियेटर ऑन व्हील्स की तर्ज़ पर काम कर रहे हैं। हम सभी लोक क्षेत्रों में, अंचलों में घूम कर लोक शैलियों को देखकर उसे अपनी शिक्षण प्रणाली में डालते हैं।

एन.एस.डी. से अलग होने का एक कारण यह भी है कि कम संसाधन में ज़्यादा ट्रेनिंग देना चाह रहे हैं। वह कहा जाता है ना अभावों में सृजन होता है। एन.एस.डी. का पाठ्यक्रम ज़्यादातर पाश्चात्य पर ही आधारित है और हमारा शास्त्रीयता, लोकशैली, हिन्दी रंगमंच पर। इसी के साथ हमारी कोशिश यही है कि एक मुकम्मल अभिनेता के रूप में हमारे छात्र पूरी तैयारी के साथ निकलें। ऐसा न हो कि दुनिया के तमाम थियेटर को देखकर भी कुछ हासिल ना कर पायें।

रंगमंच हमेशा नया ही होता है। जब करें तब नया है। पूरे जीवन में एक या दो काम ही होते हैं जो नये होते हैं, सिग्नेचर वर्क होते हैं। बहुत सालों में एक क्लासिक रचना बनती है, बार-बार नहीं। रोज़ नाटक, उपन्यास लिखे जा रहे हैं लेकिन नाटक का दर्जा बहुत कम नाटकों को मिलता है। इसी तरह हम भी रुटीन वर्क ही करते हैं और कभी-कभी कोई काम आपके लिये और लोगों के लिये यादगार होता है। इस नज़रिये से अभी जो एस.एस.डी. के विद्यार्थियों के साथ 'गगन दमामा बाज्यो' किया विद्यार्थियों के साथ पढ़ाई के ख़्याल से और भाषा के परिदृश्य से वो एक अलग काम था।

बहुत दिनों के बाद एक नाटक किया जिसमें ऊर्जा थी तालियों का इस्तेमाल किया, स्पेस कटिंग की अलग-अलग फॉरमेशन्स बनाए। हम सभी के लिये एक अलग ही मज़ा रहा। रंग संगीत पर भी बच्चों को सिखाना है।

दो-तीन नये काम और करने हैं। जैसे भिखारी ठाकुर के जीवन पर एक नाटक 'बटूही' त्रषिकेश सुलभ का लिखा है उसे तैयार कर रहा हूँ। दलित कवि 'हीराडोम' उनके ऊपर भी फिर से काम करना है। मृच्छकटिकम् को दोबारा करना है। एक सर्जक के अंदर जो छटपटाहट होती है इस समय उससे गुज़र रहा हूँ। बहुत दिन हुए कुछ नया काम किये, पर वो ऐसे नहीं होगा। जिस तरह दिन भर क़लम लेकर बैठने से कविता नहीं लिखी जाती उसी तरह सोचते रहने से नया काम नहीं होता, अचानक प्रस्फुटन होता है और इसके पीछे एक पूरी प्रक्रिया है।

रंग संगीत प्योर संगीत नहीं होता। वह एप्लाईड म्यूजिक है प्रयोजन मूलक होता है। वह स्टेटमेंट ओरियेन्टेड होता है। इंटरप्रिटेटिव, विश्लेषण योग्य होता है। नाटक में मूड क्या है, परिवेश क्या है, किस काल का नाटक है, संगीत बहुत हद तक इस पर आधारित है। रिप्रेजेंटेटिव जिसको कहते हैं। नाट्य संगीत किसी विशेष शैली या राग रागिनियों पर आधारित नहीं होता। इसमें शास्त्रीय संगीत भी है, लोक संगीत भी फ़िल्मी संगीत भी। जैज़ भी, ट्राइबल भी, देशभक्ति भी, जनवादी संगीत भी है। यह सबका मिला जुला रूप होता है। यह सब करता है। यदि शास्त्रीय नाटक है तो ज़रूरी नहीं कि शास्त्रीय संगीत से ही बनाया जाये। उसमें लोक नाट्य शैलियों के माध्यम से भी एण्टर कर सकते हैं। लोक नाट्य में शास्त्रीयता के माध्यम से नया रूप दे सकते हैं। तो ये इण्टरप्रिटेटिव होता है।

नाट्य संगीत में स्वर की प्रधानता भी होती है। उसमें ज़्यादातर गाना कम्पोज भर कर देने से ही नाट्य संगीत नहीं हो जाता, पूरा नाटक कम्पोज करना होता है। जिस तरह से लाइट डिज़ाइनर पूरे नाटक की लाइट डिज़ाइन करता है उसी तरह हम भी पूरे प्ले के स्ट्रक्चर को देखते हुए संगीत बनाते हैं। रंग संगीत भी नाटक में एक चरित्र की तरह आता है। उसकी परिस्थितियों को कांट्रीब्यूट करता है। इसीलिये यह प्योर म्यूजिक नहीं है। इसे किसी मात्रा में सेट करके नहीं बनाया जाता। इसमें वाद्य यंत्रों की प्रधानता होती है। क्रियेटिव म्यूजिक है। क्रियेटिव इफेक्ट्स पैदा करना। संगीतकार को ज्ञातव्य होना चाहिए कि वैश्विक स्तर पर क्या काम हो रहा है। देश की शैलियों में क्या है, कितने तरीक़े का नृत्य और संगीत है। कितने तरीक़े के वाद्ययंत्र हैं। सिनेमा का संगीत कैसा था, कैसा है। इन सबके प्रति जानकारी होनी चाहिए। किसी एक शैली में बँधकर नहीं रहना है। कारंत जी ने जो प्रयोग किये उसके बाद ही लोगों ने रंग संगीत को लेकर काम करना शुरु किया। बिदेसिया को करने के बाद ही से सब किया। बड़ों को देखा कारंत जी, मोहन जी, भास्कर चंदावरकर, पंचानन पाठक जी इन सबसे सीखकर, यही अपने अंदर खोजा और अपने अंदर की संगीत की उथल-पुथल को बाहर निकाला। ब्रेख्त के नाटकों में भी संगीत दिया, शास्त्रीय में, लोक और नौटंकी में तो करता ही आया हूँ। भवई पर भी काम किया।

मेरी शुरुआती स्थितियाँ बहुत जुदा थीं। अपनी पढ़ाई पूरी करने के बाद घर वालों का प्रेशर नौकरी के लिए बढ़ने लगा। मेरे लिए तो कहीं से कहीं तक नौकरी करने का सवाल मन में था ही नहीं और ना रुझान था, सिर्फ़ रंगमंच ही करना था। एन.एस.डी. के बारे में सुना तो बहुत था लेकिन दाख़िले के बारे में सोचा नहीं था। इसके पीछे भी एक छोटी-सी कहानी है। एन.एस.डी. जाने के पहले तक मैंने बिदेसिया और 'बकरी' ये दो नाटक निर्देशित कर बतौर निर्देशक अपनी पहचान बना ली थी। ये 86 की बात रही होगी। एक लड़का मेरे पास आया टेस्टीमोनियल के लिए एन.एस.डी. के फॉर्म में दो निर्देशकों से टेस्टीमोनियल लिखने का प्रावधान है। फॉर्म देखकर मेरे मन में लोभ आया और मैंने फॉर्म को फोटोस्टेट करवा लिया। मन में आया कि एन.एस.डी. का इन्टरव्यू देकर देखना चाहिए। इन्टरव्यू दिया और कॉल आ गया। मैं अब तक यही सोच रहा था यदि चुनाव हुआ तो अच्छा है और यदि नहीं तो न सही। चूँकि 10 साल का रंगमंच का अनुभव था उसी के आधार पर इन्टरव्यू दिया और सिलेक्शन हो गया। मेरे मन में बहुत सारी बातें चल रही थीं एन.एस.डी. पहुँचकर रंगमंच का विस्तृत फलक देखने का मौक़ा मिलेगा। रंगमंच और देश दुनिया को समझने का मौक़ा मिलेगा। बस मेरा उद्देश्य यही था कि वापस गाँव में ही थियेटर करूँगा और हुआ भी यही। वापस लौटकर अपनी संस्था को और मज़बूत बनाया, एक प्रोफेशनल रूप दिया। अगर मैं एन.एस.डी. नहीं जाता तो शायद स्थिति यह नहीं होती, पारिवारिक दबाव में आकर नौकरी कर रहा होता या कहीं असिस्टेंट डायरेक्टर होता। ज़्यादा से ज़्यादा आई.ए.एस., आई.पी.एस. होता। लेकिन दिल में जो था वह नहीं कर पाता और यह बात हमेशा परेशान करती। एन.एस.डी. ने मुझे रंगमंच को देखने समझने के लिए एक नयी दृष्टि प्रदान की। एन.एस.डी. तकनीक सिखाता है, विचार नहीं। विचार तो आपके अपने ही होते हैं। तकनीक सीखने के बाद जब आप प्रयास करते हैं तो पहले से बेहतर निकलता है। कोई भी संस्थान नौकरी नहीं देता, सिर्फ़ रास्ता दिखाता है।

● ● ●

संजय उपाध्याय के निर्देशन में 'मृच्छकटिकम्' का मंचन

**वहाँ चमचम बनारसी साड़ी पहने, पान खाते हुए, कोई बैठी थीं, हमें दिग्गज-सी कोई लगीं। किसी ने पूछा पहचानती हैं? ये बेगम अख़्तर जी हैं। हम तो बस उनके रौब को देखते ही रहे। पैर छू के प्रणाम किया तो वो बोलीं, 'बेटे आवाज़ तो तुम्हारी अच्छी है, रियाज़ करोगी तो आगे जाओगी।' हम ऑडिशन पास हुए और दो गाने एचएमवी में रेकार्ड हुए।**

# नदी से माँगी माँ की बेटी हूँ

शारदा सिन्हा

**अनुलता राज नायरः** दुनिया जहाँ का प्यार-दुलार, मान-सम्मान और यश मिला आपको पर इस सफ़र की शुरुआत कब हुई?

**शारदा सिन्हाः** ये सवाल किसी भी गायक से आप पूछेंगी तो वो अक्सर यही कहेंगे कि उन्होंने बचपन से गाना शुरू किया पर मैं वास्तव में बहुत ही छोटी उम्र से गाने लगी थी। मैं किताबों में जब कविताएँ पढ़ती थी तो उनको गा-गा के पढ़ती थी, और याद करती थी। पिताजी टोकते भी थे कि तुम कविताओं को गा के पढ़ती हो। तब नहीं समझी थी पर अब समझी, और बड़े भाई भी बताते हैं कि बाबूजी इतने दूरदर्शी थे, ऐसी पारखी नज़र थी उनकी कि जब उन्होंने देखा कि मैं इतनी छोटी उम्र से कविता को गेय बना के याद कर रही हूँ तो वो समझ गए कि मेरे भीतर शायद कोई गायिका है। तो उन्होंने मुझे 'सिखलवाना' शुरू किया। यानी रुचि जिस तरफ़ है उस तरफ़ बढ़ने देने की सोच उस ज़माने भी उनमें रही इसलिए वो आज तक हमारी प्रेरणा हैं। बाबूजी ने उस वक़्त हमें संगीत सिखाना तय किया। तब लड़कियों को पढ़ाना ही बड़ी बात थी, गाना सिखाना तो कोई सोचता भी नहीं था। बाबूजी ने ऐसा प्रबंध किया कि गुरुजी घर पर आकर सिखा सकें क्यूँकि उस वक़्त लड़कियाँ बाहर जाकर नहीं सीख सकती थीं। बाबूजी श्री शुभदेव ठाकुर, सरकारी नौकरी में थे। एजुकेशन डिपार्ट्मन्ट में। तब बिहार और झारखंड एक था। ये 1960 के आस-पास की बात है और तब का गाँव समझिए। उस समय हम बाहर पढ़ रहे थे तब छुट्टियों में बाबूजी गाँव ले आया करते थे ताकि हम देखें-सीखें कि गाँव कैसा है! इसलिए गाँव से मेरा हमेशा नाता जुड़ा रहा। गर्मियों की छुट्टियों में यानी आम के महीने में आँधियाँ देखना, टिकोलों का गिरना, ये सब देख के, ख़ुद महसूस करके समझा। पढ़ा नहीं, बल्कि व्यावहारिक ज्ञान लिया। तो वहीं से मेरी शुरुआत हुई। घर में सब भाई और हम मिल के भजन वगैरह गाते थे। तुलसी और कबीर को ख़ूब गाया। बाद में गुरुओं से बाक़ायदा शिक्षा शुरू हुई। तब आठवीं कक्षा में रहे होंगे।

रामचन्द्र झा जी थे, पञ्चगछिया घराना से, पंडित रघु झा जी थे, तो उन लोगों से घर पर ही संगीत की शिक्षा ली। दो-दो तीन-तीन दिनों की सिटिंग लगती थी। उन दिनों ऐसा था कि

गुरुओं की ख़ूब सेवा ख़ातिर होती थी। उनके खाने, पीने, सोने रहने सबका बहुत ही अच्छे से इंतज़ाम किया जाता था। उस समय का जो गेस्ट रूम था वो बिल्कुल दरवाज़े पर होता था।

**गुरुजी नियमित नहीं थे तो उनकी ग़ैरहाज़िरी असर नहीं करती थी?**

– नहीं–नहीं, गुरुजी होमवर्क या कहिए टास्क देकर जाते थे। तो उनके ना होने पर बाक़ायदा रोज़ नियम से रियाज़ करते थे। बाक़ी गाने, भजन, प्रार्थना तो चलती ही रहती थी। बड़े हुए तो और भी गुरुओं से सीखा जैसे– ग्वालियर घराने के सीताराम हरि दांडेकर जी से और श्रीमती पन्ना देवी जी से ठुमरी दादरा।

**शारदा जी अब तक की बातचीत में माँ का ज़िक्र नहीं आया? कुछ बताइए ना उनके बारे में।**

– (कुछ देर सोचते हुए) देखिए हमारा समाज पुरुष प्रधान तो रहा ही है और बाबूजी चूँकि ज़्यादा ख़ुले विचारों के थे। माँ को, जिनका नाम सावित्री देवी है, उन्हें भीतर से लगता था कि लड़की को संगीत सिखा रहे तो लोग क्या कहेंगे? हालाँकि ऐसा नहीं था कि वो रोक रही हों। मेरे मायके में ये रोकटोक बिल्कुल नहीं रही। शायद बाबूजी का इतना सपोर्ट था, घर में पढ़ाई–लिखाई वाला माहौल रहा इसलिए कहीं कोई दिक़्क़त नहीं आई। माँ भी पढ़ी लिखी थीं, उस ज़माने में मिडिल स्कूल की हेड मिस्ट्रेस रहीं, बाद में गृहस्थी सम्हालने के लिए नौकरी छोड़ दी। ये 1938–39 की बात होगी। तो सारे भाइयों के साथ मिल कर हम गाते रहे जबकि गायकी की कोई प्रथा हमारे ख़ानदान में नहीं रही। भाई कोई संगीत के क्षेत्र में आगे आए नहीं जबकि उनकी आवाज़ बहुत अच्छी थी।

**बचपन का कोई क़िस्सा बताइए, खेत-खलिहान, लोक से जुड़ा।**

– बचपन में बाबूजी हमको भाइयों के साथ खेत–खलिहान भेज देते थे कि जाकर देखो कैसे जुताई, रोपाई हो रही, कटाई हो रही। बिना देखे कैसे जानोगे कि धान कैसे कटता है। वो कहते हैं ना कि कहानियाँ लिखना हो, किरदार समझने हों तो यात्राएँ की जानी चाहिए, ये ठीक वैसा ही था। यानी ख़ुद अनुभव करना सिखाया बाबूजी ने। मेड़ों पर खड़े हम देखते रहते, मन ललकता कि हम भी काटें धान। वैसे ही आँगन में चूड़ा कुटाता था ओखली में ओखल और समाठ, उसको हाथ में लेकर कूटने की कोशिश करते। माँ बहुत डाँटती थीं कि हाथ में पड़ गया तो हाथ चला जाएगा। अनाज कूटने की ढेंकी चलाते थे। ये सब समझिए कि लोक गीत के कंटेन्ट हैं।

**धान काटने की मेहनत देखी आपने। तब ही तो ऐसे प्यारे श्रम गीत गाए– ''दिन भर के थकन माँदल घर जब आइब, रूसल पिया के जियरवा रिझाईब''। आपने लोक देखा, शायद ये कहना सही होगा कि आपने लोक जिया है। बताइए ना कुछ, कोई और ऐसा मीठा क़िस्सा।**

– परिवार में अकेली बेटी रहे हम। कई सालों बाद पैदा हुई। बड़े माँग–चाँग के पैदा हुए। माँ बताती हैं कि तुमको हमने कोसी से माँगा है, कोसी नदी से। आप सोचिए बड़ी दिलचस्प बात है इतने सालों पहले भी मेरी माँ ने बेटी माँगी थी। उन्हें बड़ा शौक़ था कि उन्हें बेटी हो वह उसकी चोटी–पाटी करें, उसे सजाएँ। (ज़ोर से हँसते हुए)

माँ कहती थी कि आँगन बेटी के बिना अच्छा नहीं लगता, नदी से माँगने का तो रिवाज़ है ही ना। तो गंगा नहीं, कोसी नदी से माँगा। बेटी हुई तो कोठी–पाठी और न जाने क्या–क्या देंगे। गाँव में लोग 'कोसी की बेटी' कहते हैं। कहते हैं कि माँ ने पूजा की और सबके कहने से अड़हुल का फूल आँचल में छान लिया, फिर कहा गया कि इसको रात में खा लेना, तो माँ ने खा लिया। शी वाज़ प्रेग्नेंट! ये प्राकृतिक भी हो सकता है पर कहते हैं ना कुछ न कुछ तो बात होगी ही... और संजोग से बेटी हो गई। माँ बहुत ख़ुश। ...जानती हो अनुलता, ये बात मैंने पहले किसी और से कही भी नहीं।

**आपसे मिल कर बात करके मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है जैसे बरसों से जानती हूँ, जैसे माँ की गोद में सर रखे गाँव दुआरे की, ननिहाल की, खेत खलिहान की, गीत-गानों की कहानी सुन रही हूँ। जैसे कोई माँ अपनी विरासत सौंप रही हो मुझे। आपके बेटे अंशुमान और बिटिया वंदना भी उतने ही प्यारे। आपने भी छुट्टियों में गाँव आने की बात की। क्या आप शहर रहती थीं?**

– हाँ, मैं पटना में रही। पहले क्लास छः में वनस्थली में दाख़िला लिया पर वहाँ रह नहीं पाई, बहुत दूर था। फिर पटना में बाँकीपुर हाई स्कूल में पढ़ी, जो सरकारी स्कूल था पर बहुत अच्छा और सबसे ख़ास बात कि वहाँ म्यूज़िक था और इसी कारण कॉनवेंट या और किसी अँग्रेज़ीदाँ स्कूल कॉलेज मैंने नहीं चुने।

**शारदा जी, आपकी बिंदास हँसी और आँखों की चमक देख कर मुझे लग रहा है कि आप बचपन में शरारती रही होंगी? अपने गाँव हुलास की कुछ चटपटी बातें हमें भी सुना दीजिए।**

– (ज़ोर से हँसते हुए) बचपन में बाबूजी धान कटाई के समय खेत भेजते कि चोरी-चारी ना हो, ज़रा नज़र रखना। तो हम और भाई वहाँ ऐसे बात करते कि किसी को समझ ना आए क्यूँकि मैथिली बोली तो सब जान जाएँगे। यहाँ बता दूँ कि हम बातचीत मैथिली में ही करते थे हालाँकि गाया मैंने सभी भाषाओं में है- मगही, बज्जिका, भोजपुरी...। तो हमने अपनी भाषा ईजाद की और उल्टा करके बोलना-गाना भी सीख लिया। हम खेत की मेड़ों पर गाते थे- ''झेमु यानिदू लोंवा बिरास न झोमस'' 'मुझे दुनिया वालों, शराबी न समझो' गाते तो लोग नाम धरते कि ठाकुर साब अपनी बेटी को कैसा संगीत सिखा रहे हैं। (हँसती हैं ज़ोर से) ऐसे ही ग्वाली, याने जहाँ बैल-गाय बाँधते थे वहाँ हम बैलों के साथ जुगलबंदी करते थे। भूसाई नाम का बैल था, काली आँखों वाला, और एक था झनक सिंह। ये नाम इसलिए कि उसको कहीं ले जाना हो तो पहले दौड़ाना पड़ता था, यानी वार्मअप करना होता था, वरना उसको 'झनक' लगती थी। तो ये दोनों बैल मेरा गाना सुनते और अपना गला खखार के अआ... करने लगते। (ठहाका लगाते हुए गाने लगीं) गाँव से, जानवरों से बड़ा लगाव रहा मेरा शुरू से। कितना बढ़िया था ना उस समय कि बाहर नौकरी करने को निकले अधिकतर लोग रिटायरमेन्ट के बाद गाँव चले जाते थे। घर तो वहीं होता था ना।

**वो पहला मौक़ा कौन-सा था जब आपने पब्लिकली गाना गाया। वो कहते हैं ना ब्रेक का मिलना?**

– उसके दो स्तर मानते हैं हम। एक तो प्रोफेशनल स्तर और एक स्कूली। जब हम स्कूल में थे तो हर 15 अगस्त को, 26 जनवरी को राजभवन में जाने की बात होती थी तब हम हमेशा जाते थे और सबसे आगे रहते थे। उसी क्रम में हमारे दूसरे राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन आए थे पटना, तो हमने उस समारोह में भी हिस्सा लिया था। मणिपुरी नृत्य किया था हमने। बाक़ायदा सीखा था हमने और शौक़ भी बहुत था। फिर गाँव का अनुभव है- जहाँ नाटकों के बीच में गाने के अवसर मिले। लेकिन एकदम प्रोफेशनली स्टेज पर गाने का अवसर 1974 में मिला। दरभंगा में दुर्गा पूजा के अवसर पर कार्यक्रम था। वो पहला लाइव शो था। उस समय मेरी शादी को चार साल ही हुए थे। पति का बहुत सहयोग रहा। तो उस वक़्त हम हारमोनियम ट्रक में लेकर जाते थे। लोगों की बातों, प्रतिक्रियाओं से थोड़ा डरते भी थे। उस समय हमने शर्त रखी थी कि हमारे गाने के बीच अगर कोई सीटी बजा देगा या कोई शोर करेगा तो हम उठ के चले जाएँगे। तब संचालक ने ऐसा न होने का वादा किया था। हालाँकि अब ऐसा नहीं लगता। सीटी से भी अब भय नहीं लगता। तब हमने भजन और गीत गाए क्यूँकि हमने रेडियो से लाइट म्यूज़िक (सुगम संगीत) से ऑडिशन पास किया हुआ था जिसके तहत गीत, ग़ज़ल और भजन आते थे। आज तीनों विधाएँ अलग कर दी गईं हैं।

**आपको लोक गायिका के रूप में पहचान कब और कैसे मिली?**

– सबसे पहले एचएमवी में जो रेकॉर्डिंग हुई वो संस्कार गीत था। 1971 में, तभी हमने लोक संगीत गाया। सच बोलें तो इतना कुछ समझता भी नहीं था तब। हमने तो वही गाया जो रोज़मर्रा में शामिल था। जैसे भैया की शादी में नेग माँगने जो गाया था, जब द्वार छेंकती हैं ना बहनें? कि शादी करके बहु को लेकर आया है तो गृहप्रवेश से पहले भैया नेग दे दो तब अंदर जाने देंगे- तो चाची-मामी बोलीं, इकलौती बहन होने से क्या बिना मेहनत नेग पा जाओगी? गाओ तो मिलेगा। तो हमने उसी समय उन सबसे पूछ के जो गाया था वही पहली रेकॉर्डिंग हुई। ''द्वार के छेकाई नेग पहिले चुक्कड़यों दुलरवा भैया, तब जाइह कोहबर अपन, हो दुलरवा भैया''।

ग्रैमोफोन कंपनी एचएमवी ने टैलेंट हन्ट किया था। वो शहर-शहर घूम रहे थे। पहले राउन्ड में डिसक्वालीफाय हुए तो बहुत दुख हुआ, सोचा अब क्या करना, बिगाड़ लेते हैं आवाज़, गला ही ख़राब कर लेते हैं। तब हमारे पति ने कहा दोबारा ट्राइ करेंगे, दोबारा मौक़ा माँगा, और मौक़ा मिला। हमने अबकी ख़ूब अच्छे से गाना गाया। फिर वहाँ मौजूद लोगों ने हमसे कहा, वहाँ भीतर जाकर मिल लीजिए। हम जानते नहीं थे किसी को। वहाँ चमचम बनारसी साड़ी पहने, पान खाते हुए, कोई बैठी थीं, हमें दिग्गज-सी कोई लगीं। किसी ने पूछा पहचानती हैं? ये बेगम अख़्तर जी हैं। हम तो बस उनके रौब को देखते ही रहे। पैर छू के प्रणाम किया तो वो बोलीं, 'बेटे आवाज़ तो तुम्हारी अच्छी है, रियाज़ करोगी तो आगे जाओगी।' हम ऑडिशन पास हुए और दो गाने एचएमवी में रेकार्ड हुए। जानती हो, वहाँ बेगम अख़्तर कोई ऑडिशन सुनने नहीं आई थीं। वो तो संयोग था कि जब वो वहाँ थीं तो मेरा गाना हुआ, उन्होंने सुना और आशीर्वाद दिया। फिर हमने उनकी

बहुत सी ग़ज़लों को सीखा और गाया। एक एलबम भी निकला है- 'किसी की याद' जिसकी पहली ग़ज़ल है- ''मौसम है प्यारा-प्यारा, कितना रंगीन नज़ारा।''

**मुझे लगता है कि शारदा जी की ग़ज़लों को लोकगीतों ने ढाँक दिया। फ़िराक़ गोरखपुरी और गोपाल सिंह नेपाली को गाने के बाद भी शायद बहुत कम लोगों तक आपकी ग़ज़लें पहुँची और शायद इस वजह से ये मलाल रहा क्या कि आपके चाहने वाले बिहार, यूपी तक सिमटे?**

– मलाल तो नहीं पर ये सच ज़रूर है। अब कहीं ग़ज़ल गाना भी चाहूँ तो लोग लोकगीतों की फ़रमाइश करने लगते हैं। फ़ोक के कई एलबम आए और सभी ख़ूब हिट हुए। ख़ूब प्यार मिला लोगों का।

एक बड़ी दिलचस्प बात बताती हूँ कि एक एलबम आया, दुलरवा भैया, तब विनायल रेकॉर्ड हुए करते थे। अब समस्या थी कि सुनूँ कैसे? प्लेयर था नहीं। तो हम अपने पति को कहते कि जाकर चौक पर बजवाइए। और फिर लाउड स्पीकर पर बजते उस गीत को हम अपने घर की बालकनी में सुनते थे। फिर बाद में एचएमवी की रॉयल्टी आई तब जाकर प्लेयर ख़रीदा। इसी से याद आया कि पहली रेकॉर्डिंग की रॉयल्टी 73 या 74 रुपए आई थी। बाँछे खिल गई थीं... रे बाबा! हम इतने ख़ुश और 26 रुपए की लखनवी चिकन की साड़ी ख़रीद लिए थे। साड़ी का अब भी बहुत शौक़ है। बड़ी सी लाल बिंदी और बढ़िया साड़ी।

**शारदा जी आपने कितने ही गीत गाए, न जाने कितने एलबम निकले, कुछ नाम लीजिए ना जो आपको ख़ास लगते हों।**

– मैथिली कोकिल विद्यापति जी को समर्पित अलबम का ज़िक्र करना चाहूँगी- श्रद्धांजलि 'अ ट्रिब्यूट टू मैथिल कोकिल विद्यापति'। ये उस समय मैथिली के पहले-पहले एलबमों में था और विदेशों तक प्रसिद्ध हुआ- ''कनक भूधर शिखर वासिनी''...। ये एलबम एचएमवी से आया था, इसके उद्घाटन में गवर्नर हाउस से आर्मी का बैंड आया था। इसमें पंडित नरेंद्र शर्मा जी की कॉमेंटरी थी, सूत्रधार विजय चौधरी और उस्ताद निज़ामुद्दीन ख़ाँ साहब का तबला। हिन्दी कॉमेंटरी की वजह से ये ज़्यादा लोगों तक पहुँचा, शायद अँग्रेज़ी में भी होती तो और अच्छा रहता। भिखारी ठाकुर जी के बिदेसिया का भी नाम लूँगी।

**कितनी सुखद बात है ना कि आपने अपना संगीत बच्चों को भी दिया। जैसा कि मालूम हुआ, आपकी बेटी वंदना ने गोद में, आपके सीने से लग कर दूध पीते हुए संगीत अपने भीतर उतारा। माँ के लंबे-लंबे रियाज़ शायद गर्भ से ही उनके भीतर भी असर कर गए। अब आख़िरी सवाल, जो भीगे हुए, तीज-त्योहारों वाले बारिश के मौसम से जुड़ा है। कुछ कजरी, झूला की बात हो जाए।**

– कजरी देखा जाये तो लोक गीतों का एक आधार कहा जा सकता है। एक बड़ा सेक्शन है कजरी। कजरी, चौमासा, बारामासा, झूला इन चीज़ों का लोक गीतों में बहुत महत्व है। ''सावन के आई महीनवा हो सखी गावा कजरिया।'' ये सुंदर छोटी सी कजरी है। वैसे ही जब-जब मेघ, बिजली चमकती है, कड़कती है, जब मेघ बरसना शुरू होता है तब नायिका को अपने प्रीतम की बहुत ज़्यादा याद आती है। वो विलाप करती है, खोजती है, याद करती है, मेरा पति, परदेस है वो आया नहीं। इससे जुड़ा गीत है- ''सखी रे, श्याम नहीं घर आए, बदरा घिर-घिर आए न।''

ऐसे ही इस तरह से महाकवि विद्यापति की लिखी रचना, उसमें मैंने गाया- ''आली रे प्रीतम बड़ निर्मोहिया।'' पावस की जहाँ तक बात है वो, पावस जिसको मल्हार कहते हैं। मुझे याद है कि काशी विद्यापीठ में जब कार्यक्रम हो रहा था। मैंने गाना शुरू किया और अचानक से बादल बरस पड़े। वो बारिश का ही दिन था, अगस्त का माह था- ''भादों रहन अंधियारी बदरिया छाई रे रामा।'' ये कजरी मैं गा रही थी। जैसे ही ''मोरे राजा केवड़िया खोल रस की बूँदें पड़ी'' ये गाया, बारिश की बूँदें पड़ना शुरू हो गई। ऑडियन्स इधर-उधर बिखरने लगी। कुर्सियों को सिर पर लेकर सब खड़े हो गए। लेकिन वो गए नहीं, इतनी बारिश में भी सुनते रहे, और उसका लुत्फ़ उठाते रहे। मैं वो ज़िंदगी भर भूल नहीं सकती।

● ● ●

**आज आर्थिक संसाधन आपको मिल रहे हैं तो आपकी जो काम करने की इच्छा होती थी वह बहुत मरती जा रही है। अब आप काम चलाऊ काम ज़्यादा कर रहे हैं। काग़ज़ भर रहे हैं। ख़ाना पूरी कर रहे। मुझे लगता है यह बहुत ख़तरा है। इसको रिव्यू किया जाना चाहिए।**

देवेन्द्र राज अंकुर

# हर कला में होती है नाटकीयता

**विनय उपाध्याय–** अंकुरजी, क़रीब पाँच दशक की रंग यात्रा हो चुकी है आपकी। लंबी और बीहड़ भी। कई सारे मंज़र। कई तजुर्बे। बेशुमार क़िस्से और किरदार इस सफ़र के हैं। आज वक़्त के इस मुहाने पर जब अपने रंग संसार को देखते हैं तो क्या सोचते हैं? अपनी भूमिका के सांस्कृतिक हस्तक्षेप को किस तरह देखते हैं?

**देवेन्द्र राज अंकुर–** देखिए, रंगमंच एक जीवंत कला है। और इसमें कोई संदेह नहीं कि जो भी जीवंत कला होगी वो हस्तक्षेप करेगी ही। दूसरा ये कि नाटक प्रतिरोध की कला है। किसी भी नाटक की संरचना को उठाकर देख लीजिए। नाटक तभी आगे बढ़ता है जहाँ दो विरोधी विचारधाराएँ आपस में टकराती हैं और वह संघर्ष बहुत दूर तक चलता है, और अंततः उसमें से किसी एक की जीत होती है, और एक की हार होती है। चाहे आप पश्चिम में जायें या फिर हमारे यहाँ के नाटको में चले जायें।

**नाटक भी ललित कला है लेकिन अन्य कला माध्यमों की तुलना में वह अधिक वाचाल है। जनता के बीच जाकर संवाद करता है नाटक। आपकी बात जोड़कर कहूँ तो उसकी आवाज़ प्रतिरोध की आवाज़ है। क्या मौजूदा परिस्थितियों में नाटक सच्चे प्रतिरोध की आवाज़ रह गया है? क्या वह अपनी सामाजिक ज़िम्मेदारी ठीक से निभा रहा है?**

– हम अगर थोड़ा-सा पीछे लौट जाएँ। 1942 के आसपास जब पूरा देश आज़ादी की लड़ाई में लगा हुआ था, तब कलाकारों के मन में भी, जो अलग-अलग क्षेत्रों में काम कर रहे थे, रंगमंच में, चित्रकला में, संगीतकला में, नृत्यकला में, शिल्पकला में, तो उनके सामने भी यह सवाल आया था। क्या कलाकार अपनी ही दुनिया में लिप्त होकर अपना अपना काम करता रहे? या कि उसकी भी कोई सामाजिक ज़िम्मेदारी है? या कि उसकी भी एक भूमिका होनी चाहिए? और आज़ादी की लड़ाई जैसा एक इतना बड़ा मुद्दा पूरे देश के सामने है। तो वहीं उस दौर में इंडियन पिपुल्स थियेटर एसोसिएशन का जन्म हुआ। मैं समझता हूँ कि इस तरह का पार्टिसिपेशन, इस तरह की प्रतिभागिता, इस तरह का आपस में मिलजुलकर अपने रास्ते बनाना। सभी माध्यम

के लोग एक जगह पर आये। और उन्होंने अपने-अपने माध्यम में जो भी वो काम कर रहे थे। चित्रकार, चित्रकला के माध्यम से जो भी चित्र थे उनको बेचकर जो पैसा वो आज़ादी की लड़ाई में लगाना है, नाटक वाले लोग अपने हिसाब से कर रहे थे। आज भी मैं समझता हूँ कि इस पर बहुत-बहुत ज़्यादा ज़रूरत है लेकिन यहीं पर चुनाव का प्रश्न है। यह सवाल ख़ासकर नाटक में काम करने वाले आदमी के लिए या कलाकार के लिए बहुत ही गहरा चयन का प्रश्न है। क्या वह सत्ता से जुड़कर अपने माध्यम में काम करें? या कि वह सत्ता से बाहर रहकर अपने माध्यम में काम करे! यह जो चयन है इसके बारे में हमें हमेशा जागरूक रहना होगा और अगर सत्ता से भी जुड़ना है, तब भी फिर वह उस माध्यम की जो मूल प्रकृति है, जिसको मैंने कहा था कि किस हद तक वो प्रतिरोध के रास्ते से अपना काम कर सकता है, उसके विचार के बारे में भी हमें गंभीरता से सोचना होगा।

**आपके जीवन वृत्त को देखते हुए एक सवाल अचानक मन में उठा है कि हिन्दी आपकी अभिव्यक्ति की ज़मीन रही। आप हिन्दी में ही एम.ए. हैं। साहित्य में भी आपकी रुचियाँ गहरी हैं। आपने नाटकों पर शोध किया, किताबें भी लिखीं लेकिन साहित्य को ही पूर्णकालिक पेशा नहीं बनाया। कई विधाएँ सामने थीं। नाटक में ही पनाह पायी, क्यों?**

– आमतौर पर जैसा हर विद्यार्थी के साथ होता है। बहुत छोटी उम्र में ही वाद-विवाद प्रतियोगिता, कविता प्रतियोगिता, कहानी प्रतियोगिता उसी में फिर एक उम्र में आकर नाटकों को देखने और फिर उनको देखकर ख़ुद करने की इच्छा पैदा हुई। और कम से कम तीन प्राध्यापक मुझे ऐसे मिले, आज तक के समय में जो स्वयं भी इसी माध्यम में ज़्यादा काम करने में रुचि रखते थे। एक तो आठवीं क्लास में बहुत ही छोटे से क़स्बे में पढ़ाई कर रहा था। 8वीं और 9वीं क्लास की पढ़ाई के दौरान सुरेंद्र नाथ सक्सेना नाम के प्राध्यापक थे। वे हमें नागरिक शास्त्र पढ़ाने के लिए आए। सांस्कृतिक गतिविधियों में उनकी ज़बरदस्त रुचि थी। ख़ुद नाटक लिखना और हम सब छात्रों को इकट्ठा करके नाटकों को करवाना। वहाँ से एक पहली शुरूआत हुई। फिर कॉलेज में गये। वहाँ अंग्रेज़ी विभाग में अखिलेश्वर झा जिन्होंने 'जनपथ किस नाम से' बहुत मशहूर उपन्यास लिखा। जिस पर हमारे रंगकर्मी दोस्त रंजीत कपूर ने बहुत ही अच्छा प्रोडक्शन तैयार किया जो बहुत चला। कॉलेज में जो भी ड्रामेटिक सोसायटी होती है वो उनके इंचार्ज थे। तो उनके साथ जुड़ गये। वहाँ इसको थोड़ा और ग्रोथ मिला। फिर जो सबसे बड़ा परिवर्तन आया। सिक्सटी सेवन में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से कुछ लोग ओम शिवपुरी, सुधा शिवपुरी, मोहन महर्षि और रामगोपाल बजाज ये लोग, बाहर आकर इन लोगों ने 'दिशांतर' नाम की अपनी एक संस्था बनाई। और इनको एक बड़े से प्रोडक्शन के लिए बहुत से लोग चाहिए थे। हम तब तक विश्वविद्यालय में आ चुके थे। एम.ए. प्रीविएस कर रहे थे। हमारा सहपाठी था दिनेश ठाकुर, जो पहले से ही दिल्ली रंगमंच में सक्रिय था, रेडियो पर और रंगमंच पर। तो उसके साथ-साथ मैं भी चला गया। वो लोग चार नाटक एक साथ तैयार कर रहे थे। 'गण देवता', 'तुग़लक़', 'कंजूस' और 'सुनो जनमेजय'। उस दौरान उनके सारे नाटक को करने की प्रक्रिया को देखने का मौक़ा मिला। उससे पहले क्या होता था कि मंच पर खड़े हो गए। प्राध्यापक ने कहा लाइनें बोलना हैं, कभी इधर से उधर चले गये। जो भी कपड़े घर से मिले वो ले आये, वो पहन लिए।

**तो वह आपका पहला-पहला तजुर्बा था। वहीं से दिलचस्पी जागी और फिर बाद में रंगमंच के शास्त्र को समझने की दिशा मिली। ज़ाहिर है यह सब काम ही आया।**

– तब ये लगा कि यह भी एक मेथड हो सकता है। ये लाइनें क्यों बोली जा रही हैं? हर छोटे से छोटे संवाद में क्या अर्थ है? हर छोटी से छोटी बातचीत का क्यों इस्तेमाल किया जा रहा है?

**विधाएँ तो कई सारी थीं, आपने निर्देशन ही क्यों चुना?**

– मैं शुरू से प्राध्यापक बनना चाहता था। अगर मैं रंगमंच में न आया होता तो प्राध्यापन कर रहा होता। मुझे तीन विषयों में बहुत रुचि थी। गणित, अंग्रेज़ी और हिन्दी। बाद में गणित तो बहुत पीछे छूट गया और अंग्रेज़ी एक तरह से मुख्यधारा में नहीं रहा। हिन्दी में ऑनर्स किया, हिन्दी में एम.ए. किया। ज़ाहिर था कि हिन्दी में प्राध्यापन करना है। निर्देशन भी एक तरह का मूल रूप से उसमें भी प्राध्यापन के गुण मौजूद है। आप सिखाते हैं। आप गाइड करते हैं। लोगों को लेकर चलते हैं। यह पहले से बहुत साफ़ था।

**यह जो स्किल है निर्देशन का आपने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में रहते और समानांतर अन्य संस्थाओं के साथ, अपनी संस्था 'सम्भव' के साथ काम करते हुए विकसित किया। लेकिन अंकुर जी, आधुनिक**

**रंगमंच को जो एक महत्वपूर्ण सौग़ात आपने दी वो कहानियों के रंगमंच की है। यूँ तो हम दर्शक के रूप में, रसिक के रूप में जानते हैं कि हर नाटक में एक कथानक होता ही है लेकिन कहानी के रंगमंच को एक नयी विधा के रूप में आपने प्रतिष्ठित किया। क्या नज़रिया था आपका?**

– नज़रिया कुछ नहीं था। मेरा कहानियों से बहुत शुरू से ताल्लुक़ रहा है। पढ़ने का बहुत शौक़ था। जितनी किताबें लाइब्रेरी में या जहाँ से मिलती थीं पत्रिकाओं में, एक छोटी उम्र में या घरों में बड़ों से कहानियाँ सुनते थे। तो वो कहीं न कहीं जुड़ा रह गया। फिर जब एमए में पहुँचे तो हम लोगों को एक डेज़ेरटेशन करना होता था। तो मेरा विषय 'सन् साठ के बाद की हिंदी कहानी था' तो उस दौरान और पढ़ा तो मुझे लगा कि फिर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय का प्रशिक्षण भी शामिल हो गया। जब बाहर आये अब ये पता नहीं कैसे भटकते हुए फ्रीलांसिग करते हुए और उस पूरे मंडी हाउस में चक्कर लगाते हुए एक विचार कौंधा कि कहानी जैसे लिखी गयी है उसको बिना बदले, बिना नाट्यरूपांतरण करके क्या रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है?

**मतलब जिसे कहते हैं कि अपने आप से चुनौती थी यह।**

– 1975 में मैं राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल में एक साल था। वहाँ मुझे यह मौक़ा मिला कि निर्मल वर्मा की तीन कहानियों को मंच पर प्रस्तुत किया जाये। 'तीन एकांत' के नाम से बाद में वह छप भी गयी किताब के रूप में। मुझे आज भी याद है 1 मई 1975 में उसका हमारे स्टूडियो थिएटर में पहला मंचन हुआ। लोग भी चौंक गये। उन्होंने भी शायद ऐसा नहीं देखा था कि थर्ड पर्सन में एक आदमी अपने बारे में बोल रहा है। या फर्स्ट पर्सन में बोल रहा है। और एक-एक नैरेटिव डिटेल उसमें शामिल है। और फिर जो कुछ भी उसमें बोल रहा है उसको भी नहीं दिखाया जा रहा है। अगर इलस्ट्रेशन होगा फिर आप उसमें नया क्या कर रहे हैं? मंच लगभग ख़ाली है। यह आज ख़ाली नहीं है। पहली प्रस्तुति की थी उसमें भी एक कहानी में दो मेज़ और दो कुर्सियाँ थीं। और एक कहानी में दो बेंचें थीं। बस, इससे ज़्यादा कुछ नहीं था।

**लेकिन आमतौर पर दर्शक बाक़ायदा यथार्थवादी मंच सज्जा के बीच नाटक देखने का आदी रहा है। आप कोरे या लगभग ख़ाली मंच पर नाम मात्र की मंच सामग्री का इस्तेमाल करते हुए कहानियों को वहाँ ले गये। दर्शकों का क्या रिएक्शन रहा?**

– आज 47-48 साल हो गए हैं, लगातार मैं इस काम को कर रहा हूँ। 48वाँ साल शुरू हो चुका है। यह सिर्फ़ दर्शकों की उत्साहवर्धक प्रतिक्रिया का ही नतीजा है कि लगातार हम इस काम को कर रहे हैं। वो नाटकों को देखते आ रहे थे। फिर फ़िल्में आ गईं उनको देखने लगे। फिर टेलीविज़न आ गया उनको देखने लगे। वह यहाँ पर एक ऐसे माध्यम को मंच पर देख रहे हैं जिसको वो कभी सुनते थे। फिर जब प्रकाशित होने लगा तो वो उसको पढ़ने लगे। अब जब उसको उसी फॉर्म में जिस फॉर्म में जिस तरह से लिखा हुआ है उसको होते हुए देख रहे हैं, तो उनकी प्रतिक्रिया थी कि ये कहीं फ़िल्म टेलिविजन और रंगमंच इन सबका एक संगम सा दिखाई पड़ता है। हमें कभी लगता है कि हम दूरदर्शन देख रहे हैं। कभी लगता है कि फ़िल्म देख रहे हैं। तो ये उनकी प्रतिक्रिया है। और मुझे बहुत अच्छा लगा। मैं कलकत्ता गया 1982 में। वहाँ के लेखकों की दो कहानियाँ बंगाली में कीं। तो जिन्होंने मेरे साथ काम किया, जो दर्शक थे, उन्होंने कहा कि सर हम ने थर्ड थियेटर तक तो सुना था बादल सरकार का। अब इसको क्या नाम दिया जाए? क्या हम इसको फोर्थ थियेटर कह सकते हैं? मैनें कहा मैं तो इसको कहानी का रंगमंच कहता हूँ। अर्थात कहानी, कहानी रहते हुए कितनी दूर तक रंगमंचीय अनुभव में जा सकती है। इसीलिए उसका नाम 'कहानी का रंगमंच' है।

**नाट्य मंचन के लिए कहानी चयन की क्या दृष्टि होती है आपकी? इस सवाल के साथ कथाकार वनमालीजी का कहा याद करना चाहूँगा जिसमें वे कहानी में नाट्य तत्वों का होना आवश्यक मानते थे।**

– सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जो बात कहानी में कही गयी है, वह कहीं न कहीं आपको अंदर तक भेदने वाली होनी चाहिए। वह आपके लिए कोई सवाल उठाती हो और अगर वह मेरे लिए सवाल उठा रही है तो मुझे विश्वास है कि वह दर्शकों के लिए भी सवाल उठाएगी। उनके साथ भी जुड़ेगी। तो यह पहला सवाल है। फिर क्या है कि जिस भी लेखक को आप चुन रहे हैं, आप उसकी सारी रचनाओं को पढ़ने की कोशिश करते हैं और पूरे समूह के साथ मिलकर उसमें से कभी तीन, कभी दो या कभी एक जैसा भी जहाँ जो अपेक्षाएँ हैं उसको फाइनली चुनकर प्रस्तुत करते हैं। तो पहले तो यही है कि वो कविता भी है 'वह बात बोलेगी' शमशेर जी की है तो वो मैं एक कहानी में देखता हूँ। सवाल रहा नाटकीयता तो हर कला विधा में होती है। लेकिन

ज़रूरी नहीं कि वह नाटक हो। यह तो बड़ा मशहूर कथन है किसी बड़े राइटर का। वह तो अपने आप में शामिल हो जाएगा। जब कहानी आपको अच्छी लग रही है। आपके दिल को छू गयी है तो फिर वह दिमाग तक भी पहुँचेगी। कहना चाहिए कि उसका एक सार्थक संवाद सबके साथ बढ़ेगा।

**बात कहानियों की चल रही है, उसके प्रयोग की हो रही है और संयोग से यह संवाद भोपाल के आईसेक्ट स्टुडियो में हो रहा है तो अनायास संतोष चौबे की कहानियाँ याद आती हैं- 'ग़रीब नवाज़', 'नौ बिंदुओं का खेल' और 'सतह पर तैरती उदासी'। इन तीनों कहानियों का नेचर अलग है। आपने इनमें दो कहानियों के नाट्य प्रयोग किये हैं। भोपाल, पंजाब, बिहार, झारखंड आदि जगहों पर इसके मंचन हुए हैं। क्या अनुभव रहा आपका और दर्शकों का?**

– जब पहली बार उनकी कहानियों को करने की बात आयी, तो उनकी लगभग दस कहानियाँ हम लोगों ने पढ़ीं। उस दौर में भी 'नौ बिंदुओं का खेल' और 'ग़रीब नवाज़' शॉर्टलिस्ट हुईं। चूँकि उस दौर में ज़्यादातर लोग बाहर थे हमारे और कुछ कम ही लोग हमारे पास थे। हमें लगा कि पहले ग़रीब नवाज़ कर लेते हैं और उसको हमने ख़ूब मन लगाकर तैयार किया। आमतौर पर क्या होता है कि मैं अपने अभिनेताओं से अपेक्षा करता हूँ कि वे उनमें निहित बिंदुओं को वो उसमें निहित दृश्यावली को उभार कर लायें। लेकिन इस कहानी का अनुभव मुझे आज भी याद है कि लोग मुकर गये। कहने लगे अंकुर जी! इस बार चाहते हैं हम कि आप इसको तय कीजिये कि इसमें क्या होना चाहिए। और बाद में हम मज़ाक करते हैं कि आप देख लो जिसमें मैंने किया वही सबसे ज़्यादा पॉपुलर हो गयी। ईमानदारी से कहूँ तो हम पहले प्रदर्शन यहाँ करने के लिए आये थे। और हम सोच रहे थे कि ठीक है इसके बाद इसको करने का मौक़ा मिले या न मिले। लेकिन वह दिन और आज का दिन 7-8 साल तो हो चुके हैं इस कहानी को किये हुए। इसकी डिमांड लगातार बनी हुई है। क्यों बनी है क्योंकि पर्यावरण की समस्याएँ, अतिक्रमण की समस्याएँ ये हमारी अपनी रोज़मर्रा में शामिल हैं। तो कहानी बनती चली गयी। पाँच लोगों की वेलनेट कास्ट और उसमें मैं छठा हो गया। एक संगीत वाला आदमी और एक प्रकाश वाला आदमी। कहानी मंचन का डिज़ाइन इतना फ्री फ्लो में चलता है कि लोग मज़ाक करते हैं, ''अच्छा आप अपना सामान वग़ैरह समेट लीजिए प्रस्तुति के बाद''...

**इधर कुछ बरसों में सरकारी और ग़ैर सरकारी स्तर पर नाट्य विद्यालयों की स्थापना हुई है। दूसरी ओर शौक़िया या कहें कि ग़ैर व्यावसायिक नाट्य संस्थाओं की भी बाढ़-सी आ गयी। आप वो शख़्सियत हैं जिन्होंने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की बागडोर भी सम्हाली है और 'संभव' जैसे अशासकीय रंग समूह का संचालन भी दिल्ली में कर रहे हैं। इस विस्तार या उत्साह को कितना सुगढ़ और सार्थक मानते हैं?**

– देखिये! बाक़ी सारी कलाओं के विद्यालय बहुत पहले से हैं। चित्रकला के विद्यालय, संगीत के विद्यालय, नृत्य के विद्यालय, न जाने कब से हमारे यहाँ पर संचालित हैं। इंदिरा कला संगीत, कला विश्वविद्यालय को छोड़ दीजिए। बहुत साल हो गए उसको। लेकिन नाटक की जगह कितनी है? आमतौर पर यह मान लिया गया कि अभिनय कला को सीखने की ज़रूरत नहीं है, यह तो आ जाती है, यह एक भ्रम बना हुआ है। ऐसा बिल्कुल नहीं है। जब हम मंच पर होते हैं, हम अपने जीवन को प्रस्तुत नहीं कर रहे होते हैं। जीवन से प्रेरित अवश्य होते हैं लेकिन वह हू-ब-हू न तो हमारा जीवन हो सकता है और न ही होना चाहिए। हम आपको देखना चाहते हैं और वही उसका कमाल है अभिनय कला का। इसको सीखना पड़ता है। तीन गुण हैं नाट्य विद्यालय जिन पर कंसंट्रेट करते हैं। हर अभिनेता में अगर यह नहीं है तो वह अच्छा अभिनेता बन ही नहीं सकता। सबसे पहले तो उसके ज़िन्दगी का ऑब्जरबेशन बहुत स्ट्रॉन्ग होना चाहिए। दूसरे लोगों की ज़िंदगी, दूसरे लोगों का रहन-सहन, अपने आसपास जब चाहे वह उनमें से कुछ लेकर अपने नाटक में इस्तेमाल कर सकता है। हो सकता है किसी के पास यह नहीं है। फिर उसकी कल्पनाशक्ति इमेजिनेशन बहुत स्ट्रॉन्ग होनी चाहिए। कि वह कुछ भी क्रिएट कर सकता है। माने ये दोनों भी हैं लेकिन उसके पास सबसे ज़्यादा एग्जीक्यूशन कि उसको करना कैसे है, ये जब तक नहीं आता तब तक सारे गुणों का कोई फ़ायदा नहीं। इसलिए वो कला बन जाती है। अभिनय और हर कला को सीखना पड़ता है। अब ज़रूरी नहीं कि आप विद्यालय में ही सीखें। जब विद्यालय नहीं थे तब संस्थाओं में लोग सीखते थे। किसी संस्था में नए-नए लोग दाख़िल होते थे। वो दूसरे लोगों का काम देखकर सीखते थे। आज जब विधिवत विद्यालय आ गये तो उसका एक सिस्टम बन गया। और यह बहुत ख़ुशी की बात है कि टैगोर विश्वविद्यालय की स्थापना हुई और उन्होंने सबसे पहले इस बारे में सोचा कि टैगोर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की नाटक जैसी विधा को पहले नम्बर पर रखना चाहिए। दूसरी कलाएँ जब आएँगी तब आएँगी, लेकिन नाटक जैसी विधा को पहले नम्बर पर रखा।

**भारत सरकार की नई शिक्षा नीति में भारत की पारंपरिक कलाओं या कहें कि प्राचीन ज्ञान परंपराओं का विशेष संदर्भ लेकर उनके अध्ययन-अध्यापन पर ज़ोर दिया गया है। ऐसे में जब बात नाट्य शिक्षा की आती है तो परिदृश्य में बहुत-सी विसंगतियाँ दिखाई देती हैं। अव्वल तो प्रशिक्षित अध्यापकों की ही कमी है।**

– बहुत ठीक कहा विनय तुमने। ये ज़्यादा इम्पोर्टेन्ट है कि प्राध्यापक बनने की दिशा में हम तब ही आगे बढ़ सकते हैं जब रंगमंच एक विषय के रूप में स्कूली एजुकेशन हिस्सा बनेगा। आप देखिए संगीत एक सब्जेक्ट के रूप में आता है। चित्रकला भी एक सब्जेक्ट के रूप में है। काफ़ी हद तक नृत्य कला भी स्कूली शिक्षा का हिस्सा है। लेकिन रंगमंच आज तक सिवाय 15 अगस्त, 26 जनवरी को एक नाटक करना है या कोई और वैसा ऑकेजन आ गया उस पर करके हम लोग अपनी ज़िम्मेदारी से मुक्त हो जाते हैं। उसको लाना पड़ेगा एक विषय के रूप में। लेकिन प्राध्यापन के क्षेत्र में जाना बहुत ज़रूरी है। इसीलिए पहली शर्त यही है कि स्कूल खुल रहे हैं कॉलेजों में यूनिवर्सिटीज में दूसरे विभाग आ रहे हैं लेकिन आगे भविष्य क्या है? इसका भविष्य तभी बनेगा जब स्कूल-कॉलेजों में नाटक एक विषय के रूप में आएगा। फिर उनको पढ़ाने वाले प्राध्यापक चाहिए। तो फिर वो प्राध्यापक उनकी अपेक्षाओं को पूरा करेंगे जो विषय है। कलाकार निकल रहे हैं तो हर विद्यालय के साथ एक रंगमंडल की परिकल्पना अनिवार्य रूप से होनी चाहिए। उसके बारे में हमें सोचना है। जैसे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली के साथ जो 1959 में शुरू हुआ तो 1964 से रंगमंडल छोटे रूप में आया। फिर धीरे-धीरे बड़े रूप में और आज उसमें चौबीस-पच्चीस कलाकार काम कर रहे हैं। उनका दूसरा विंग है थियेटर इन एजुकेशन का। चौबीस-पच्चीस लोग उसमें काम कर रहे हैं। मैं समझता हूँ कि यह बहुत ज़रूरी है।

**अंकुरजी, हमारे शुरूआती सवाल-जवाब में नाटक की सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका का मुद्दा आया है। लेकिन इधर तो अपने बुनियादी लक्ष्य से भटककर ज़्यादा रंगकर्मी सरकारी प्रोजेक्ट हथियाने और पैसा कमाने की तिकड़मों में अधिक मसरूफ़ नज़र आते हैं? कहाँ गयी प्रतिबद्धता?**

– मैं आपसे शत-प्रतिशत सहमत हूँ। हम लोगों ने उस दौर में काम करना शुरू किया था जब कोई ग्रांट्स नहीं थी। सरकार की कोई रेपर्टरी नहीं थी। और हमें याद है तब भी हम लोग रंगमंच कर रहे थे। ज़्यादा शिद्दत के साथ कर रहे थे। ज़्यादा जीवंतता से कर रहे थे। आज आर्थिक संसाधन आपको मिल रहे हैं तो आपकी जो काम करने की इच्छा होती थी वह बहुत मरती जा रही है। अब आप काम चलाऊ काम ज़्यादा कर रहे हैं। काग़ज़ भर रहे हैं। ख़ाना पूरी कर रहे। मुझे लगता है यह बहुत ख़तरा है। इसको रिव्यू किया जाना चाहिए। मैं तो बड़ी ख़ुशी से भी कहता हूँ और कभी-कभी गर्व भी महसूस होता है कि आज तक हम लोगों को उस रास्ते पर जाने की ज़रूरत नहीं पड़ी। लेकिन हम लगातार काम कर रहे हैं।

**सर, ये समय का, जेनेरेशन का फ़र्क़ है। आपके संस्कार जुदा रहे। लक्ष्य और चुनौतियाँ भी अलग रहीं। यह दौड़ का, होड़ का दौर है। वर्चस्व का है। रिझाने का है। तकनीक ने भी तो हमारा सामाजिक ताना-बाना कितना बदल दिया। नाटक पर भी असर होना स्वाभाविक ही है। आप क्या सोचते हैं?**

– मैं समझता हूँ कि आज के रंगकर्मी को इसके बारे में बहुत गंभीरता से सोचना चाहिए। अगर उसको फ़िल्म में जाना है तब उसको वह निर्णय तुरंत कर लेना चाहिए। नाटक को स्टेपिंग स्टोन की तरह अगर वह ना इस्तेमाल करे तो ज़्यादा अच्छा है। क्योंकि फिर उसको ज़ीरो से शुरू करना पड़ता है। जितने भी अच्छे लोग गये एनएसडी में वो शुरुआती दौर में ही निकल गए। आप देखें कि नसीरूउद्दीन शाह ने तीन बरस प्रशिक्षण लिया और उस दौर में तो कोई ओपनिंग्स भी नहीं थी। तो उसने दो साल फ़िल्म इंस्टीट्यूट में प्रशिक्षण लिया। तब वह सीधे मुंबई गया। यह अलग बात है कि उसने अपने अंदर की जो रंगमंच करने की चाह है लगातार उसको बचाकर रखा है और मैं अकेला ऐसा फ़िल्म एक्टर देखता हूँ जो पिछले चालीस-पचास साल से अपनी संस्था भी चला रहा। वह कहता है कि मुझे जिजीविषा रंगमंच से मिलती है। पैसा फ़िल्मों से मिलता है। तो मेरा दोनों तरह से काम हो रहा है।

**जी ठीक कहा आपने दोनों ही माध्यमों में समान दिलचस्पी के साथ काम करना और अपने आपको सस्टेन करना, यह माद्दा नसीरूद्दीन शाह जैसे लोग ही कर पाते हैं। तो यह एक मैसेज भी है रंगकर्मियों की आने वाली जेनेरेशन के लिए। ... अंकुर जी बस आख़िरी सवाल। इन दिनों आप किस प्रोजेक्ट पर काम कर रहे हैं?**

– ज़्यादा समय निकालना तो लगातार मुश्किल हो रहा है। टैगोर फेलोशिप के तहत काम कर रहा हूँ। काम के आख़िरी छह महीने बचे हैं। विषय 'भरतमुनि की अभिनय परिकल्पना' है। मैं इसे एक सैद्धान्तिक रूप में नहीं देखता। बिल्कुल व्यावहारिक विषय है। आजकल के रंगकर्मी के साथ वह किस तरह से जुड़ सकता है इस पर काम कर रहा हूँ। उसकी तीन किश्तें पूरी हो चुकी हैं। एक किश्त और बची है। इस साल के अंत तक उसको पूरा करना है। मुझे आशा है कि लोग रिस्पॉन्ड करेंगे। अभिनय वाले पक्ष को लेकर मैंने एक नए दृष्टिकोण से विचार किया है। कुछ और पुस्तकों पर भी काम चल रहा है। इधर संस्मरणों में मन रम रहा है। आधी सदी में बहुत सारा ऐसा है जिसे याद करना चाहूँगा। चार जून को मेरा जन्म दिन होता है। कोशिश रहती है कि उस दिन कोई न कोई किताब आ जाए।

● ● ●

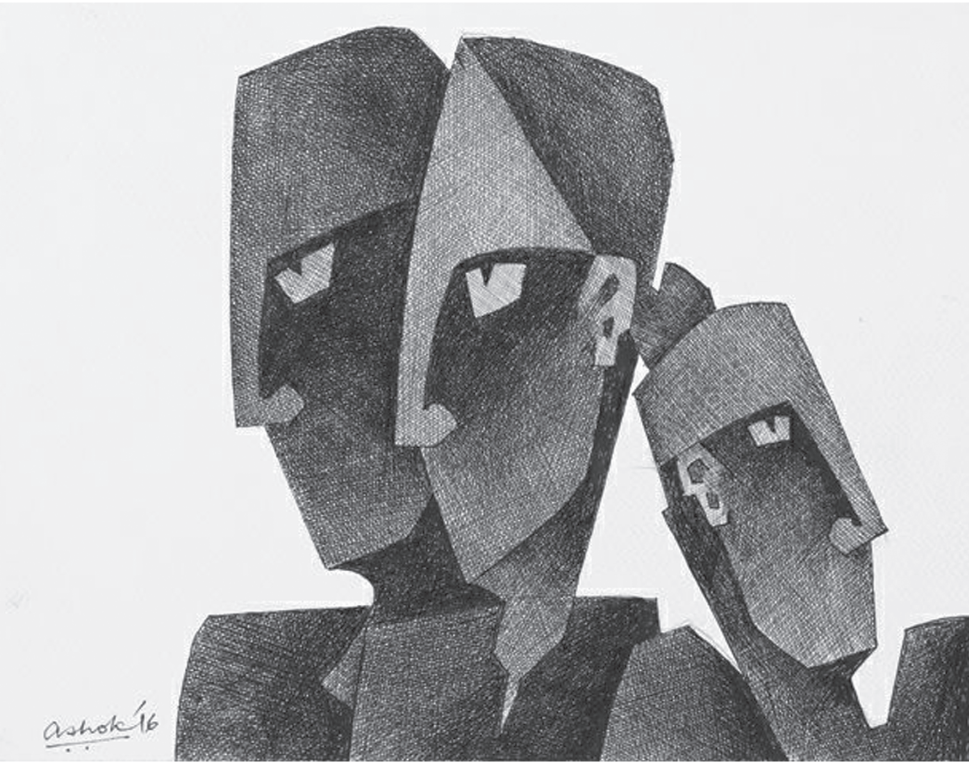

रियाज़ का तो कोई शॉर्टकट हो नहीं सकता। जो लोग प्रसिद्धि के लिए संगीत सीखते हैं वो लोग अलग हैं। पर गुरू माँ का कहना है कि आप बचपन से संगीत सीखना शुरू करें, तो भी एक जीवन में आप तीन या चार से अधिक राग नहीं सीख सकते। संगीत साधना है और साधना, समय से जुड़ी है,

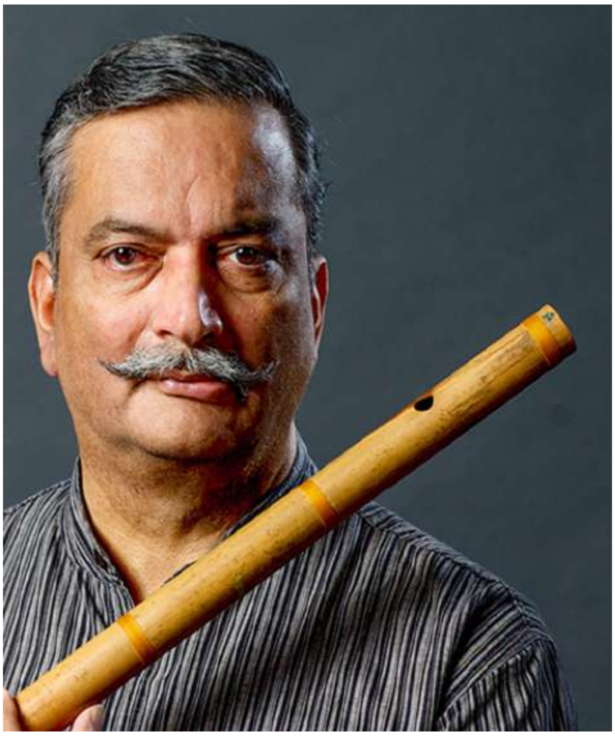

# कुपात्र को संगीत सिखाना और सुपात्र को न सिखाना दोनों ही पाप

नित्यानंद हल्दीपुर

**सुनीता सिंह :** पंडित जी, आज आपको सुनते और आपसे बातें करते हुए यूँ लग रहा है, जैसे हम उस स्वर गंगा में डुबकी लगा रहे हों, जो बाबा अलाउद्दीन ख़ाँ के हृदय से निकली और उनकी सुपुत्री माँ अन्नपूर्णा देवी से होती हुई, आपके माध्यम से, हम तक पहुँची। मन-मस्तिष्क और ये जगह-सब पवित्र हो गए। गुरु माँ से पहली मुलाक़ात कैसी थी?

**नित्यानंद हल्दीपुर:** माँ से जब मैं मिला, तब आकाशवाणी का टॉपग्रेड आर्टिस्ट था, मंचीय प्रस्तुतियाँ भी देता था। उस समय मैं अपने गुरु देवेन्द्र मुर्डेश्वर जी से सीख रहा था। गुरु को लेकर द्वंद्व में था, कि जिनसे अब तक सीखा उनके अलावा, किसी दूसरी तरफ़ रुख़ कैसे करूँ! गुरु के प्रति श्रद्धा और आत्मीयता मुझे बार-बार रोक रही थी और दूसरी तरफ़ सीखने की ललक भी थी। किसी तरह खुद को समझाने के बाद गुरु माँ के पास पहुँचा। मुझे याद है कि मेरे भीतर बहुत घबराहट थी, बहुत नर्वस था मैं।

**क्या बातें हुईं पहली मुलाक़ात में? कुछ याद है?**

- हाँ, मैंने अपना परिचय दिया, और कहा- मैं आपसे सीखना चाहता हूँ। तो गुरु माँ ने कहा- तुम तो ख़ुद एक स्थापित कलाकार हो, आकाशवाणी से जुड़े हो, मैं तुम्हें क्या सिखा सकूँगी? बहुत बड़े-बड़े कलाकार हैं। बहुत जानकार गुणी लोग हैं उनसे सीखो। मैं लगातार कहता रहा-नहीं। मुझे आपसे ही सीखना है। बहुत मुश्किल से वो मानीं। कहा- अच्छा, कुछ सुनाओ!

**कौन सा राग सुनाया, कुछ याद है आपको?**

- जी याद है। मेरे गुरु जनों ने हमेशा सिखाया था कि जब भी किसी बड़े उस्ताद या कलाकार के पास जाओ, सीखना चाहो तो सारा अहंकार छोड़ कर जाओ। विद्यार्थी बनकर,

छोटे बन कर जाओ। विनम्रता से जाओ। तो वही सीख मैंने याद की और दरबारी जैसे कठिन राग के चक्कर में मैं नहीं पड़ा। मैंने शुरूआती राग– 'यमन' बजाया।

**क्या प्रतिक्रिया रही उनकी?**

– माँ ने कहा– अच्छा है। अब इसे ऐसे बजाओ और उन्होंने यमन बजाना शुरू किया। मैं सच कहूँ, उस क्षण मुझे ऐसा लगा जैसे मैं अपने जीवन में 'यमन' पहली बार सुन रहा हूँ। मुझे कुछ नहीं आता, कुछ भी नहीं।

**क्या अलग था, क्या फ़र्क़ था आपके और उनके यमन में?**

– तुलना ही नहीं थी। मैं कह कर उसे नहीं बता सकता। वो अनुभव की बात है। स्वर को सुना, महसूस किया, उसे कहा कैसे जाए! बस, इतना समझिए कि वो भाव स्तर पर बहुत गहरी हैं इसलिए वो गहराई उनके संगीत में भी उतर जाती है, और सबसे ख़ास बात ये कि किसी राग को खड़ा करने के लिए उन्हें बहुत लंबे आलाप की ज़रूरत नहीं होती। शुरूआती एक दो लाइन में ही राग अपने मूल स्वरूप और पूरी गहराई के साथ खड़ा हो जाता है। बहुत कम देर में ही एक भाव रस बहने लगता है। मुझे लगता है कि उन्होंने मंच पर प्रस्तुति देना जो बंद किया, उस कारण वो भीतर से और अधिक समृद्ध और गहरी होती गईं। सारा राग-रस उनके भीतर सघन होकर इकट्ठा हो गया। वो अद्‌भुत हैं।

**इस तरह आपकी संगीत यात्रा उनके मार्गदर्शन में आरंभ हुई।**
**किस तरह सिखाती हैं वो? क्या पद्धति है?**

– वो राग और स्वर की शुद्धता पर बहुत ज़ोर देती हैं। वो कहती हैं कि जो बजाना है उसे पहले गाना चाहिये। वोकल पर ज़ोर है। सटीक स्वर लगते ही कह उठती हैं– 'बहुत अच्छा इसको कान में बिठाओ। इसको कान में बिठाओ, भूलना नहीं।

**रियाज़ के समय को लेकर भी कलाकारों में मतभेद देखा जाता है। कुछ लोग सुबह के रियाज़ पर ज़ोर देते हैं और कुछ रात के समय को अच्छा मानते हैं। गुरू माँ का क्या कहना है?**

– ब्रह्म मुहूर्त। सुबह 4:00 बजे उठकर। उस समय सारी आवाज़ें सो रही होती हैं। हमारा मन शांत और एकाग्र होता है। उस समय मन स्वर से ठीक तरह से जुड़ता है। पढ़ाई भी हम इसीलिए ब्रह्म मुहूर्त में करते थे जब छोटे थे। गुरू माँ सुबह के रियाज़ को ही अच्छा कहती हैं।

**अच्छा आपका तो बहुत लंबा साथ रहा है गुरु माँ के साथ।**
**बाबा की यादें किस तरह से साझा कीं उन्होंने।**

– माँ बताती हैं कि बाबा समय के बहुत पाबंद थे। जब सिखाते थे, तो कुछ नोटेशन देकर चले जाते थे, लगातार बजाने का कह कर। लेकिन बजाने से पहले गाने पर उनका भी ज़ोर होता था। वे बताती हैं कि उनकी बड़ी बहन को बाबा ने संगीत सिखाया, लेकिन शादी के बाद, उन्हें किन्ही विशेष पारिवारिक कारणों से संगीत छोड़ना पड़ा। बाबा बहुत दुखी हुए इसलिए उन्होंने छोटी बेटी अन्नपूर्णा को संगीत न सिखाने का मन बनाया। माँ बताती हैं कि एक बार बाबा सबको नोटेशन दे कर लगातार रियाज़ करते रहने का निर्देश दे कर बाहर चले गए। माँ ने भी वो नोटेशन सुना था। उनके भाई अली अकबर खाँ उसे ग़लत बजाने लगे तो माँ ने टोका और गा कर बताया। कहा– बाबा ने ऐसा बताया था। संयोगवश उसी समय बाबा लौटे और माँ का गाना सुन लिया। वो बहुत ख़ुश हुए। उस दिन उन्होंने तय किया कि वो माँ को संगीत ज़रूर सिखाएँगे। गुरु माँ बताती हैं कि बाबा कहा करते थे कि कुपात्र को संगीत सिखाना, और सुपात्र को संगीत न सिखाना, दोनों ही पाप है।

**क्या बात है! पंडित जी हम जानते ही हैं कि संगीत में रियाज़ का बहुत महत्व है। सही रियाज़ और ग़लत रियाज़ दोनों का प्रभाव बहुत गहरा होता है। यूँ तो सभी कलाकार अपने कमज़ोर और मज़बूत पक्ष के लिहाज़ से अपना रियाज़ तय करते हैं। लेकिन सामान्य रूप से गुरु माँ रियाज़ में सबसे अधिक किस बात पर ज़ोर देती हैं?**

– वो 'मूर्छना' को बहुत महत्वपूर्ण मानती हैं। उसका रियाज़ किसी भी संगीत से जुड़े कलाकार के लिए बहुत ज़रूरी है।

**क्या प्रतिक्रिया होती है मूर्छना की, और उसके रियाज़ से कलाकार को क्या फ़ायदा होता है?**

– मूर्छना को अगर समझना चाहें तो मैं कहूँगा कि मान लीजिए आप यमन का आरोह-अवरोह करते

हैं– सा रे ग मे प ध नि सां, सां नि ध प मे ग रे सा। अब इसे आप मन्द्र सप्तक के 'नि' से करें तो पाएंगे कि स्वर 'भैरवी' के हो जाएँगे। इसी तरह से ये आरोह–अवरोह आप 'रे' से करें तो राग काफ़ी जैसा लगने लगेगा। इस तरह मूर्छना के रियाज़ से आपका स्वर संज्ञान बढ़ता है। सांगीतिक रूप से आप भीतर से और मज़बूत और गहरे हो जाते हैं।

**बहुत सुंदर। गुरु माँ संगीत की गहराई पर कभी कुछ कहती हैं?**

– देखिए रियाज़ का तो कोई शॉर्टकट हो नहीं सकता। जो लोग प्रसिद्धि के लिए संगीत सीखते हैं वो लोग अलग हैं। पर गुरु माँ का कहना है कि आप बचपन से संगीत सीखना शुरू करें, तो भी एक जीवन में आप तीन या चार से अधिक राग नहीं सीख सकते। संगीत साधना है और साधना, समय से जुड़ी है, और जीवन औसतन 70 से 80 साल की अवधि ही आपको देता है तो पूरे जीवन में तीन या अधिकतम चार राग ही आप कर सकते हैं।

**वाह, इसीलिए वो अन्नपूर्णा देवी हैं। इन दिनों वो बहुत बीमार हैं और हमने सुना है कि इसी वजह से आप प्रस्तुतियाँ नहीं देते। इन दिनों उनके पास रह कर ही उनकी सेवा कर रहे हैं। ईश्वर उन्हें लंबी उम्र दे वो जल्द स्वस्थ हों और उनकी संगीत गंगा से कुछ और बूँदे इस संसार को मिलें।**

– शुभकामनाओं के लिए धन्यवाद। जी... इन दिनों मैं उनके पास ही रहता हूँ। गुरु से रिश्ता ही ऐसा होता है। फिर वो तो गुरु माँ हैं। तो मैं बेटे की भूमिका निभाने की कोशिश करता हूँ। प्रस्तुतियों का क्या है? वो इंतज़ार कर सकती हैं, लेकिन इस वक़्त मुझे उनके साथ रहना चाहिए। उनकी सेवा मेरा पहला धर्म है, और उस धर्म को निभाने की मैं कोशिश करता हूँ।

● ● ●

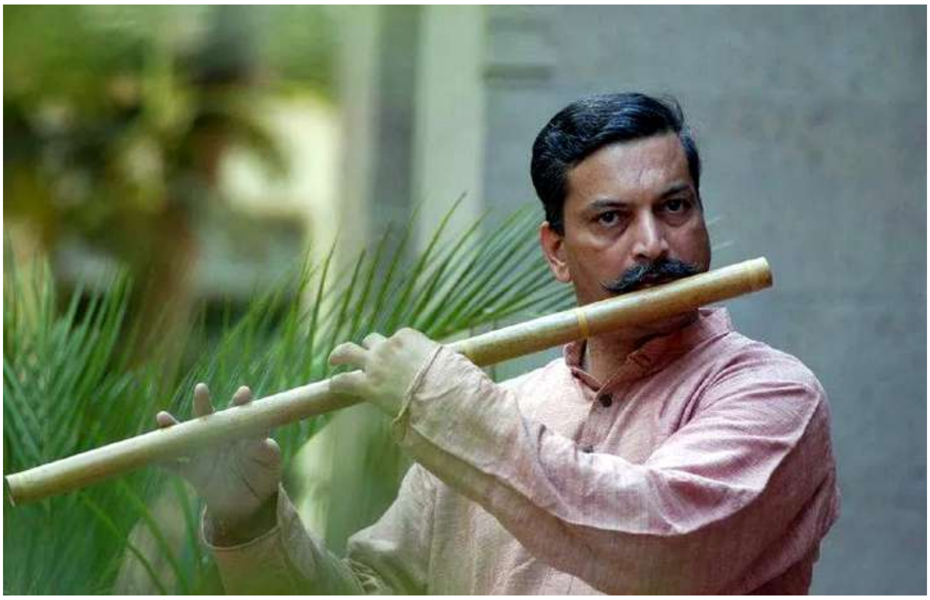

**रचनाकार के तौर पर हर व्यक्ति अपने प्रश्न, संशय और रचनात्मक विचार में हर पल संघर्षरत रहता है। प्रकाशित कृतियों के आधार पर यह धारणा अक्सर लोग बनाते हैं कि फ़लाँ की इतनी किताबें प्रकाशित हैं, तो उसका काम ज़्यादा हुआ-सा लगता है। पर मैंने अपने जीवन में ढेरों ऐसे बड़े लोगों को देखा है, जिनकी छपी हुई चीज़ों से कहीं अधिक सामग्री उनके अध्ययन कक्ष में बिखरी पड़ी है।**

# विरासत का संस्कार मेरी पूँजी

यतीन्द्र मिश्र

**अनुलता राज नायर:** अगर मैं किसी रेल के सफ़र में आपसे मिलूँ और आपका परिचय पूछूँ तो क्या कहेंगे?

**यतीन्द्र मिश्र:** मैं जो हूँ, वही कहूँगा- हिन्दी का एक लेखक हूँ। एक रचनाकार के बतर्ज़ मैंने कविताओं से अपनी शुरूआत की, जिसे आज भी लिखता हूँ, मगर उसका संचयन काफ़ी वर्षों से नहीं छपवाया है। मेरी पहचान जिनसे बनती है, उसमें कई चीज़ें शामिल हैं। मेरे लिए अपने शहर का नागरिक होना भाता है और क़स्बाई या शहरी जीवन की छोटी-छोटी बातें मुझे लुभाती हैं। अयोध्या से हूँ, यह बात अपनी पहचान के लिए भी मुझे जागरुक बनाती हैं। फिर रचना का जीवन कई अन्य माध्यमों में घूमते हुए मुझे घेरता है, जिसमें शास्त्रीय और फ़िल्म संगीत, सिनेमा की दुनिया के साथ परम्परा धर्म, अध्यात्म के चिन्तन की बातें शामिल हैं। मेरे लिए मित्रताओं का अपना आकर्षण है और मेरे दोस्त मुझे कई रूपों में प्रभावित करते हैं। मैं अक्सर अपने आत्मीय लोगों से जुड़ते या संवाद करते हुए इस बात के लिए प्रयासरत रहता हूँ कि वे मुझे एक सच्चे और सहृदय मित्र के रूप में जानें, मेरी उपस्थिति एक ज़िम्मेदार नागरिक और भले इंसान की हो। इन्हीं बातों को मन में रखते हुए अपनी रचनाओं से भी जूझता हूँ। मैं नहीं जानता कितना बेहतर कर पाया हूँ, मगर कोशिश यही है कि मेरा नाम आने पर सामने वाले के चेहरे पर सहज ही मुस्कान आए।

रही बात कि 'मेरा परिचय ख़त्म नहीं होगा और मंज़िल आ जायेगी'- ऐसा नहीं है, यह आप जैसे दोस्त की भलमनसाहत है, जो मेरे बारे में इस तरह सोचती हैं।

**लंबी वार्ताओं के बाद आप किसी शख़्सियत पर किताब लिखते हैं, जैसे 'लता: सुर-गाथा' पाँच साल की बातचीत के बाद मुक़म्मल हुई। आपको बेसब्री नहीं होती?**

- आपने 'लता: सुर-गाथा' के हवाले से यह सवाल किया है, तो उसी किताब के आधार पर अपनी बात रखना चाहूँगा। मुझे लगता है कि जब आप किसी के जीवन पर आधिकारिक रूप से कुछ लिखना और टिप्पणी करना चाहते हैं, तो उसे सामने से जान लेने का प्रयत्न करना

चाहिए। मैं इस मामले में भाग्यशाली रहा कि मैंने अब तक जिन कला विभूतियों पर किताब लिखी, उन सभी से व्यक्तिगत परिचय था और सभी ने मुझे मेरी किताब के लिए पर्याप्त समय उपलब्ध कराया। उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ, गिरिजा देवी, सोनल मानसिंह और लता जी... सभी ने बड़े उत्साह और वत्सल भाव से मुझे इस लायक़ समझा कि अपने जीवन के पन्नों को मेरे सामने खोल सकें। फिर, मुझे यह भी लगता है कि ऐसे बड़े लोगों पर कुछ लिखने से पहले आपकी तैयारी बहुत वृहद स्तर पर होनी चाहिए। आप भी जानती हैं कि इंटरनेट और सोशल मीडिया के युग में किसी भी विषय के बारे में जानकारी एकत्र करना या विवरण जुटाना, अब बड़ी बात नहीं रही। कम्प्यूटर पर एक क्लिक से तमाम सर्च इंजन उस विषय के बारे में पर्याप्त जानकारी और सन्दर्भ मुहैया करा देते हैं। यह अलग बात है कि उसमें भी अमुक विषय के बारे में दी गयी सूचनाओं की प्रमाणिकता जाँचना हर एक ज़िम्मेदार लेखक, पाठक का कर्त्तव्य है।

मेरा तरीक़ा थोड़ा अलग है, मैं यदि किसी के जीवन पर काम कर रहा हूँ, तो उससे सीधे मुख़ातिब होना पसन्द करता हूँ। मेरे लिए प्राईमरी सोर्स से जानकारियाँ जुटाना ज़्यादा भरोसेमन्द लगता है। फिर यह आपकी ज़िम्मेदारी है कि जिस व्यक्ति के बारे में आप लिखकर समाज के आगे रखना चाहते हैं, उस लेखन के प्रति आपकी दृष्टि क्या है? आप किस तरह जीवन, संघर्ष, व्यक्तिगत सूचनाओं, अन्तर्विरोधों, विवादों और उपलब्धियों को दर्ज करना चाहते हैं? एक लता जी के उदाहरण से ही यदि बात कहूँ, तो मेरे सामने यह बड़ी चुनौती थी कि उनके बारे में ऐसा क्या है, जो एक आम भारतवासी नहीं जानता? ज़ाहिर है कि उनकी प्रशंसक तीन पीढ़ियाँ रही हैं। तब उनके जीवन और संघर्षों, संगीत की तालीम, किसी गीत के बनने की प्रक्रिया, संगीत की बारीक़ी और सिनेमा की दुनिया के ढेरों अन्य मामले– सभी पर बात करना या शोध करना ज़रूरी लगा। इसके बग़ैर एक ऐसी किताब तैयार होती, जो नाकाफ़ी होती... और शायद वह लता जी की कला के साथ पूरी तरह न्याय न कर पाती। यह सब करने में एक लम्बे समय की दरकार थी, जो सौभाग्य से लता जी के सहयोग के चलते सम्भव हुई। आप बताएँ, जिस महिला का सांगीतिक कॅरियर ही आठ दशकों के विशाल समय अन्तराल में फैला हुआ है, उसे चन्द घण्टों या कुछ दिनों में नहीं निपटाया जा सकता था। मेरे लिए उनसे बात करना और उनके संगीत को समझते हुए हिन्दी फ़िल्म संगीत के इतिहास को खँगालना ज़्यादा महत्वपूर्ण था, इसलिए मैंने इस किताब को लिखने में समय लिया। वैसे भी मैं किसी भी किताब के प्रॉसेस को बड़े क़रीने से इंज्वॉय करता हूँ। मुझे किसी भी तरह की बेसब्री नहीं होती, बल्कि मेरी अपनी तबीयत में ही धीरज शामिल है। बिना धैर्य की साधना के कोई भी काम ठीक ढंग से सम्भव नहीं, ऐसा मुझे लगता है।

**इतनी बड़ी किताब की बात चली तो एक जिज्ञासा और हो रही है। लिखते हुए क्या किसी की मदद लेते हैं, जो लिखा एडिट करे या कम्पाइल करता रहे? क्लेरिकल हेल्प? क्यूँकि इतना विस्तार है इस किताब में कि एक इंसान समेट ले ऐसा सम्भव नहीं लगता। सुपर ह्यूमन हैं आप?**

– लिखते हुए तो मदद नहीं लेता, मगर अपने नोट्स बनाकर उसे टाईप कराते समय मेरे सहयोगी, अश्वनी शुक्ल उसे कम्प्यूटर पर उतारते हैं, जिसके प्रिंटआउट पर मेरे द्वारा कुछ सुधार करने के बाद उसे दुरुस्त करते हैं। वे मेरे साथ पिछले लगभग पन्द्रह सालों से हैं और मेरे काम को गम्भीरता से समझते हैं। एडिट करने का काम मैं ख़ुद करता हूँ, मुझे किसी दूसरे के द्वारा सम्पादित कराना पसन्द नहीं। मेरे लिखे के पहले पाठक भी मेरे घर में मौजूद हैं, जिसमें मेरी बुआ अपर्णा, मेरी दोनों बहनें मंजरी और शुभांगी उसे पढ़कर अपनी उन्मुक्त राय देती हैं। कई दफ़ा उनके सुझाए हुए कुछ बिन्दुओं को अपने ढंग से ठीक करता हूँ। लता जी वाली किताब में चूँकि संगीत की पारिभाषिक शब्दावली और फ़िल्म म्युज़िक की डिटेल्स भी काफ़ी आयी थीं, तो किताब के प्रकाशन से पूर्व मैंने शास्त्रीय गायिका शुभा मुद्‌गल जी से अनुरोध किया था कि वे इसे पढ़कर सांगीतिक अंशों पर अपनी टिप्पणियाँ दें, जिससे अगर कोई ग़लती निकलती है, तो उसे ठीक किया जा सके। ऐसा करने से मेरे लेखन में रचनात्मक सुधार भी हुए, जिसका ज़िक्र मैंने 'लता: सुर-गाथा' की भूमिका में किया भी है। फ़िल्मों के सन्दर्भों को जाँचने के लिए अपने मित्रों– युनुस ख़ान, गौरी याडवडकर और नरेन्द्र सैनी को भी पटकथा पहले पढ़ने के लिए भेजी थी।

एक ख़ुलासा पाठकों से भी करता हूँ, जिसकी आप गवाह भी हैं कि मेरी गुलज़ार साहब पर आने वाली पुस्तक के ढेरों अंशों को तो छपने जाने से पहले अनुलता आपने भी पढ़ा है, जिसे मैंने अपने शिल्प और वाक्य-विन्यास को देखने के लिए आपको भेजा था। इस पर आपने कुछ ज़रुरी सुझाव भी दिए हैं। (हँसते हुए)

**अद्‌भुत अनुभव था गुलज़ार साहब की किताब के अंशों को पढ़ना, बल्कि रोमांचक... शायद यही सही शब्द होगा क्यूँकि एक-एक सफ़हा पढ़ते हुए मेरे रोंगटे खड़े होते रहे।**

– कभी सोचकर ऐसा नहीं किया है। मंच संचालन, पॉडकॉस्ट या साहित्यिक समारोहों में मौजूद रहना मेरे हिसाब से आपके रचनात्मक कर्म का विस्तार जैसा तो नहीं होता। जब आपका लिखना–पढ़ना प्रबुद्ध समाज या आयोजकों को पसन्द आता है, तो ऐसे काम मिलते रहते हैं... और यह सिर्फ़ मेरे साथ ही नहीं है, आजकल युवतम से युवतम रचनाकार बहुत सारे मंचों पर अपनी बात कहते हुए पाए जाते हैं। व्यक्तिगत तौर पर कविता लिखना ही सबसे ज़्यादा प्रिय है, वह आपके एकान्त को भी दूसरे तरीक़ों से भरता है और लेखकीय सन्तुष्टि देता है। हाँ, इस बात से ज़रूर सहमत हूँ कि हाल के वर्षों में कलाकारों से लम्बी बातचीत के आधार पर उनके जीवन और कलाकर्म पर लेखन किया है। यह मुझे व्यक्तिगत तौर पर भाता है, क्योंकि उनकी रचनात्मक यात्रा से जो कौतूहल, जिज्ञासाएँ और प्रश्न मन में उपजते हैं, उनका समाधान पाने और उसे रसिक समाज के सामने लाने में सन्तुष्टि मिलती है।

**हर सुंदर रचनात्मक कार्य समय लेता है, तपस्या माँगता है। आपने अपनी उम्र के हिसाब से बहुत-बहुत ज़्यादा काम किया है। बहुत सारी अद्‌भुत किताबें, लगातार छपती समीक्षाएँ, लेख, मंचीय गतिविधियाँ, पॉडकास्ट्स और भी न जाने कितना कुछ ...। क्या फिर भी कुछ छूटा हुआ लगता है? कुछ ऐसा, जो अभी न कर पाए हों?**

– यह आपको लगता है कि मैंने ज़्यादा काम किए हैं, मगर रचनाकार के तौर पर हर एक व्यक्ति अपने प्रश्न, संशयों और रचनात्मक विचार में हर पल संघर्षरत रहता है। प्रकाशित कृतियों के आधार पर यह धारणा अक्सर लोग बनाते हैं कि फ़लाँ की इतनी किताबें प्रकाशित हैं, तो उसका काम ज़्यादा हुआ सा लगता है। पर मैं सच बताऊँ मैंने अपने जीवन में ढेरों ऐसे बड़े लोगों को देखा है, जिनकी छपी हुई चीज़ों से कहीं अधिक सामग्री उनके अध्ययन कक्ष में बिखरी पड़ी है। मेरे गुरु और पारिवारिक मित्र कुँवर नारायण जी का जितना साहित्य प्रकाशित हुआ, उसके अनुपात में कहीं ज्यादा उन्होंने लिखकर छोड़ रखा था, जिसे हम सब के कई बार मनुहार करने के बाद भी वे प्रकाशित करवाने के लिए तनिक भी उत्सुक नहीं होते थे। यह बात मुझे बड़ी लगती है और प्रेरणास्पद भी। सवाल के अन्त में आपने पूछा है कुछ ऐसा जो अभी कर न पाए हों, तो अभी तो मैं अपने रचनात्मक जीवन का आरम्भ ही मानता हूँ, जीवन व्यापक है, उसके अनुभव और भी विपुल... न जाने भविष्य में क्या लिखना हो सके, उसका अनुमान लगाने में फ़िलहाल ख़ुद को समर्थ नहीं पाता हूँ।

**आपका राग-रागिनियों और गायक-गायिकाओं से जुड़ाव, उनके प्रति प्रेम और सम्मान, संगीत की ख़ासी समझ...। आपने संगीत की शिक्षा ली है क्या?**

– मेरे परिवार में संगीत का माहौल रहा, तो अपनी दादी स्व. राजकुमारी विमला देवी के कण्ठ से निकलने वाले गीतों, भजनों, सोहर, होली गीत और दादरा आदि सुनकर मेरी किशोरावस्था बीती है। तो यह कह सकता हूँ कि कानों में पड़े हुए संगीत और घर के संगीतप्रेमी माहौल ने मुझे संगीत के प्रति उत्सुक बनाया। एक समय शास्त्रीय संगीत सीखने का चस्का लगा था, मैं शायद इण्टरमीडिएट में रहा होऊँगा, तब अयोध्या के ही एक संगीतज्ञ जो वॉयलिन वादक थे, डब्ल्यू. आर. चिश्ती जी, उनसे सीखना शुरु किया था। मुझे याद है कि मैंने राग भूपाली, यमन, भैरव और वृन्दावनी सारंग शुरुआती स्तर पर सीखा था, जिसकी बन्दिशें वे रियाज़ करवाते थे। यह तालीम कुछेक वर्ष चली, मगर अपनी आगे की पढ़ाई और संगीत को समय न दे पाने के कारण वह शौक़ परवान नहीं चढ़ सका।

**आप यात्राएँ करते हैं? मेरा मतलब घुमक्कड़ी शायद आपको पसंद है। यात्राओं की सार्थकता आपके लिए क्या रही है?**

– हर इंसान यात्राएँ तो करता ही है। मैंने भी की हैं, मगर ज़्यादातर साहित्य और कलाओं की गतिविधि के कारण या फिर किसी कलाकार से बातचीत करने और उसे सुनने जाने के लिए उन शहरों की यात्राएँ ज़रूर होती रही हैं। वैसे मैं आपको अपना सीक्रेट बताता हूँ, मुझे यात्रा बहुत प्रिय नहीं है। घर और अयोध्या में रहना ही भाता है। किसी शहर की बड़े चाव से बनी यात्रा के बाद जब वहाँ जाने का समय नज़दीक आता है, तो निरुत्साहित होता हूँ कि कहाँ इस जंजाल में फँस गया? अक्सर लगता है कि यह यात्रा न करनी होती या किसी कारण स्थगित हो जाती, तो कितना बढ़िया रहता।

**आप अयोध्या के राज परिवार से हैं। इस विरासत के बारे में बताइए।**

– आप अपने जन्म का स्थान और परिवार नहीं चुन सकते, वह ईश्वरीय है कि आपको कहाँ जन्म लेना है। मैं ख़ुद को ख़ुशक़िस्मत मानता हूँ कि ऐसे परिवार में मेरा जन्म हुआ, जहाँ पढ़े-लिखे लोगों और कलाकारों

के सम्मान की परम्परा रही। हमें बेहद समावेशी वातावरण में शिक्षित किया गया, जिसे अपने जीवन का एक सुन्दर अध्याय मानता हूँ। राजपरिवार में जन्मने के कारण इस बात की भी दृष्टि मिली कि सिर्फ़ साधन सम्पन्न घराने में जन्म लेने से कुछ नहीं होता है, बल्कि आपकी परवरिश में समाज के साथ जुड़ने, आदर देने और सहकार की कैसी भावना रही है, वो जीवन संघर्ष में काम आती है। अपने परिवार की जो सबसे अनूठी बात मुझे लगती है, वह यह कि हमारा बड़ा कुनबा एक संयुक्त परिवार है, जहाँ हर एक रिश्ते की अपनी सुन्दरता और उसके सामंजस्य की रीति उपस्थित है। ढेरों रिश्तों में पड़कर और उनके प्रति उत्तरदायित्व को देखते हुए यह मुझे रचनात्मक रूप से भी समृद्ध बनाती है। हर एक इंसान को उसके हुनर के प्रति सम्मान देने, हर आम-ओ-ख़ास के प्रति समदर्शी बने रहने और दूसरे व्यक्ति की निजता और गरिमा का सम्मान करने का जो संस्कार विरासत में मिला, वह मेरी पूँजी है। उसी पर चलने का प्रयास करता हूँ, यह अलग बात है कि कह नहीं सकता, उसमें कितना सफल रहा हूँ।

**ज्ञान और स्मृति को लेकर आप मुझे करिश्मा लगते हैं। बातचीत के दौरान क़िस्से पे क़िस्सा निकलता जाता है। ...कोई अभ्यास? ईश्वर और बड़ों का आशीर्वाद या शंखपुष्पी खाई है बचपन में?**

– (हँसते हुए) ईश्वर की बड़ी दया है कि अभी इतनी उम्र नहीं हुई कि शंखपुष्पी खाकर स्मरण शक्ति बढ़ाई जाए। मैंने आपको बताया है कि हमारा पारिवारिक वातावरण ऐसा रहा है, जहाँ संगीत, साहित्य, कलाओं के सहकार के चलते ढेरों लोगों से मिलने का व्यक्तिगत अनुभव हुआ, कुछ परिवार परम्परा की कहानियाँ, इतिहास से छनकर मिलती रहीं, कुछ अपनी भी जिज्ञासा रही होगी... ऐसे में बहुत सारे किरदारों की बातें, नसीहतें, संस्मरण और श्रेष्ठ जनों का सान्निध्य आशीर्वाद के तौर पर मिलता रहा। उसी में से कभी कुछ याद आ जाता है, आप लोगों से शेयर कर लेता हूँ। बाक़ी कोई ऐसा अभ्यास, या जादू नहीं है, जिससे कोई मनगढ़ंत बात कही जाए। इतना अवश्य कहूँगा कि जीवन के छोटे-छोटे अनुभव और सामान्य व्यवहार की चीज़ों में भी दिलचस्पी और आदर ने मेरे अनुभव और रचनात्मक कर्म को कई परतों में सघन ढंग से बुना है, जिसके रंग मुझे भाते हैं... जिसकी ख़ुशबू आत्मीय जनों से बाँटने का मन होता है।

**आप सन्तुलित और शान्त लगते हैं। कुछ व्यथित करता है, तो कैसे रिएक्ट करते हैं?**

– यह वाक़ई मेरी तबीयत में शामिल रहा कि मैं शान्त व सन्तुलित हूँ। इसका एक कारण मेरा परिवार और उससे मिला हुआ माहौल है। मुझे हमेशा लगता है कि हर व्यक्ति दूसरे से भिन्न स्वभाव और रुचियों का होता है, जिससे सामंजस्य बिठाकर और उसका आदर करते हुए ही मित्रता या रिश्ता निभाया जा सकता है। इसीलिए अपनी तरफ़ से भरसक सन्तुलित रहता हूँ। फिर भी एक इंसान हूँ, तो कई बार ग़ुस्सा भी आता है, मगर वह देर तक टिकता नहीं। मैंने हमेशा अपनी नाराज़गी या असहमति को किसी से रिश्ता निभाने की कसौटी नहीं बनाई। कई दफ़ा परिस्थितियाँ और सामने वाले की मन:स्थिति ठीक नहीं होती, तो बातें बिगड़ने के स्तर तक जा सकती हैं। इसीलिए कोशिश करनी चाहिए कि आपसी प्रेम और सहमति का विवेक बना रहे। अक्सर बहुत सारी चीज़ें व्यथित करती हैं- लोगों का व्यवहार, सोशल मीडिया पर होने वाले विवाद, किसी का व्यक्तिगत रोष या अपनी ही कोई ऐसी मन:स्थिति, जब मन खिन्न रहता है। ऐसे में भरसक उससे दूर होने और निरपेक्ष रहने का प्रयास करता हूँ। यह शायद आपने भी देखा होगा कि मैं तमाम सारी बातों, विरोध और लोगों की व्यक्तिगत नुक्ताचीनी, जो कई दफ़ा दूसरे कारणों से मेरी तरफ मुड़ी रहती है, उसे नज़रअन्दाज करता हूँ, पलटकर जवाब नहीं देता और कोशिश रहती है कि बेवजह ही किसी व्यर्थ की बहस में नहीं पड़ूँ, जो मेरे मानसिक स्वास्थ्य को तो बिगाड़े ही, मेरा रचनात्मक समय भी बेकार में ख़राब करे। दुनिया में इतने अच्छे लोग, इतनी शानदार किताबें और इतने सुन्दर रिश्ते जब मौजूद हैं, तब उसे समय देना, उसके सम्मोहन की ज़द में रहना मुझे अधिक पसन्द है। फ़िज़ूल की चीज़ों में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं।

**कोई सपना या मनोकामना है, जो भविष्य में पूरी करना चाहते हों, कोई ड्रीम प्रोजेक्ट?**

– ईश्वर का धन्यवाद कि अब तक अपने मन का ही काम किया है, जिसमें सफलता मिली। मैं तेईस बरस का रहा होऊँगा, जब शास्त्रीय गायिका गिरिजा देवी जी पर किताब लिखने की सोची थी और वह साध पूरी हुई। नाईन्थ क्लास में था, जब लता मंगेशकर जी के प्रेम में पड़ा और उसी समय से उनके संगीत का ऐसा दीवाना बनता गया कि कभी सोच भी नहीं सकता था कि वे कभी सामने से मुख़ातिब होंगी, सालों साल मुझसे बातें करेंगी और मैं उन पर किताब लिख पाऊँगा। यह सब सपनों के सच होने की ही बातें हैं... टच वुड!

अभी भी बहुत सारे ऐसे लेखन का मन है, जिनके मोह में बँधा हुआ हूँ। भक्तिकाल की कविता और

शास्त्रीय संगीत से उसके सम्बन्ध पर लिखना है। मैं एक ही समय में बहुत सारे कामों में उलझा रहता हूँ। ढेर सारी किताबों को पढ़ना, शास्त्रीय संगीत सुनना और पसन्द की भारतीय और विदेशी फ़िल्में.... इनके अलावा अयोध्या पर सालों से जारी रिसर्च में लगा रहता हूँ, जो यहाँ की संस्कृति और वांग्मय पर एकाग्र है। निश्चित तौर पर यह नहीं कह सकता कि अगला प्रोजेक्ट क्या होगा? जब, जिस चीज़ की प्रेरणा होगी, वह लेखन या अध्ययन अपने आप ख़ुद की राह पकड़ेगा। आपसे तो बस इतनी गुज़ारिश है कि यही दुआ करें कि जो कुछ भी मैं लिखकर अपने पाठकों को देना चाहता हूँ, वह ठीक और मुक़म्मल ढंग से, धैर्य और परिश्रम के साथ दुनिया के सामने आ सके।

● ● ●

**इंसान ने अपनी ज़रूरतों को बहुत ज़्यादा बढ़ा लिया है और वह बेतहाशा एक अंधी दौड़ में शामिल हो रहा है, बिना यह सोचे समझे कि उसे जाना कहाँ था और जा कहाँ रहा है। इस समस्या की जड़, बढ़ता बाज़ारवाद है।**

# जीवन को व्यवसाय न बनाएँ

राजेन्द्र गुप्ता

**निर्मला डोसी:** बहुत स्वाभाविक है कि एक क़ाबिल और लोकप्रिय कलाकार से पहली जिज्ञासा यही कि लड़कपन उसका क्या और कैसा रहा?

**राजेन्द्र गुप्ता:** मेरा परिवार पारंपरिक रूप से व्यवसायी ही था। वहाँ किसी को भी कला से कोई लेना-देना नहीं था। मेरा मानना है कि सभी रस हर इंसान के भीतर रहते हैं। जिस रस को ढील मिल जाए वह बढ़ जाता है और जिस रस को तवज्जो नहीं दी जाती, वह लुप्त हो जाता है। वैसे बचपन में गाँव-मुहल्लों में रामलीला होती थी। नाटक वग़ैरह होते रहते थे। उनमें मैं ज़रूर भाग भी लेता था। घरवालों की नाराज़गी मोल लेकर भी रात के दो-दो बजे तक घर आता। कभी वहीं रह जाता था। उसमें मुझे बड़ा आनंद आता। स्कूल में भी इस तरह की तमाम गतिविधियों में प्राइमरी से ही भाग लिया करता। मुझे याद आता है हाईस्कूल के वार्षिक उत्सव में खेले गए नाटक 'राणा प्रताप' में मैंने 'प्रताप' की केंद्रीय भूमिका की थी। कुरुक्षेत्र में भी जो भी नाटक होते, मैं देखता ज़रूर था। दूसरी किसी चीज़ में मन ही नहीं लगता था। नाटकों पर उस वक़्त पारसी रंगकर्म का ज़्यादा प्रभाव हुआ करता। जिसमें बड़ी नाटकीयता के साथ, ज़ोर-ज़ोर से बोल कर या गाकर संवाद बोले जाते थे।

देखिए, हम तो उस दौर की पैदाइश थे, जब न ख़ुद को और ना ही माता-पिता को पता होता था कि आगे करना क्या है! आज की तरह बहुत ज़्यादा विकल्प होते नहीं थे। इंटरमीडिएट पास करने के बाद मैं केमिस्ट्री ऑनर्स में चला गया। यह विज्ञान वगैरह मुझे कुछ समझ आता ही नहीं था। बस क्लास में सोता रहता। दो वर्ष तो किसी तरह निकल गए, लेकिन फाइनल परीक्षा में मैं एकदम उचट गया। दो-तीन पेपर किसी तरह दिए बाकी छोड़कर पानीपत भाग आया। इस तरह आप मुझे भगोड़ा भी कह सकती हैं।

**कुरुक्षेत्र छोड़कर एनएसडी का रुख़? यह कैसे हुआ?**

- कॉलेज के दिनों में कमल भारद्वाज मुझसे सीनियर थे। उन्होंने मेरा रुझान देखकर मुझे

सलाह दी कि दिल्ली में एक स्कूल है जहाँ ड्रामा पढ़ाया जाता है, तुम्हें वहाँ जाना चाहिए। पहले तो मुझे बहुत हैरत हुई कि अच्छा ड्रामा और अभिनय भी पढ़ा जा सकता है। फिर क्या था! ठान लिया कि अब तो मुझे जाना वहीं है।

**'जहाँ चाह वहाँ राह'। लेकिन क्या घरवाले आपको दिल्ली भेजने के लिए तैयार हो गए?**

– घर में बताया सब कुछ। ज़िद की, तो पिताजी ने सोचा अभी बच्चा है बड़ा होकर ख़ुद ही समझ जाएगा। करने दो, जो करना चाहता है। और इस तरह मैं दिल्ली एनएसडी में आ गया। वहाँ इब्राहिम अलका का साम्राज्य था। पहले वर्ष इंटीग्रेशन कोर्स होता था। दूसरे वर्ष स्पेशीलाइज़ेशन। किस में स्पेशीलाइज़ेशन करना है यह टीचर तय करते थे। मुझे अभिनय में भेज दिया गया। कुछ दिनों के बाद ही मुझे लगने लगा कि मैं जो करता हूँ उससे और बेहतर कर सकता हूँ, पर कर नहीं पा रहा हूँ। जबकि अध्यापकों को मुझसे कोई शिकायत नहीं थी। स्वयं मुझे ही संतोष नहीं मिल रहा था।

**इसकी वजह क्या थी?**

– एक तो स्वयं मेरा इंपलसिव स्वभाव, दूसरे वहाँ अंग्रेज़ी का बड़ा बोलबाला था। मैं टाट-पट्टी वाली स्कूलों में पढ़ा हुआ। एक हीनता बोध था, जिससे मेरे व्यक्तित्व में निखार नहीं आ पा रहा था। दूसरे वर्ष में तीसरे वर्ष का प्रमोशन मिला। मुझे वह ख़ैरात जैसा लगा। मैंने एप्लीकेशन लिखी कि मैं दूसरा वर्ष दोबारा पढ़ लूँगा और डायरेक्शन में जाना चाहता हूँ। मुझे बुलाया गया तथा कहा कि तुम ठीक नहीं कर रहे हो। डायरेक्शन तो एक्टिंग से ज़्यादा मुश्किल है। पर मैं कहाँ मानने वाला था! डायरेक्शन में आ गया।

**कमाल है पूरा एक वर्ष दूसरी बार फिर से पढ़ा, पास होने के बावजूद?**

– हाँ, यही किया और मुझ पर अब अनावश्यक दबाव कम हो गया था। मेरे भीतर अभिनय को लेकर जो हव्वा बैठा था, वह भी निकल भागा और मेरे अंदर की झिझक दूर हो गई। पढ़ाई में मज़ा आने लगा।

**एनएसडी के बाद आप दिल्ली में ही रंगकर्म में डायरेक्शन करने लगे?**

– हाँ, सन 72 से 85 तक डायरेक्शन किया दिल्ली में। वहाँ नाम भी मिला और दूसरी जगह निर्देशन के लिए बुलाया जाने लगा। सच बताऊँ तो मैं व्यावहारिक जरा भी नहीं हूँ। मेरे स्वभाव में होशियारी नहीं है।

**आप कहना क्या चाहते हैं?**

– जैसे, जो संस्थाएँ या जो लोग निर्देशन के लिए मुझे बुलाते, तो उनका काम करके आने के बाद, कभी उनसे वापस बातचीत, मेल-मुलाक़ात नहीं रखी, ना यह जानने की कोशिश की कि उनकी आगे की योजनाएँ क्या हैं। जैसे यूँ समझें कि मुझ में पी.आर. शिप का गुण है ही नहीं। उससे दिक़्क़त तो होनी ही थी। तीन चार वर्ष काम करके भी आर्थिक दृष्टि से कुछ ज़्यादा कर नहीं पा रहा था। नौकरी कहीं की नहीं, ना अपना नाट्य समूह ही बनाया। काम निरंतर मिलता जा रहा था और मैं उसी में मगन।

**'संभव' नाम से आपका एक ग्रुप तो था?**

– अरे हाँ, याद आया। देवेंद्र राज अंकुर मेरे सहपाठी थे एनएसडी में। कीर्ति जैन जो नेमीचंद जैन की बेटी थी वह भी मेरी सहपाठी रही। तो अंकुर के साथ 'संभव' शुरू किया। वह इतना प्रसिद्ध हुआ कि 'संभव' में काम किए कलाकारों की क़द्र एनएसडी पासआउट जैसी ही होने लगी। वीरेंद्र सक्सेना, अमिताभ श्रीवास्तव आदि लोग शामिल थे।

**इस बीच जीवन के रंगमंच पर साथी की तलाश... शादी...?**

– हुआ यह कि उन दिनों मैं दिल्ली, भोपाल, इंदौर इत्यादि कई जगह नाटक निर्देशित करने जा रहा था। मध्य प्रदेश कला परिषद ने इंदौर बुलाया एक नाटक निर्देशित करने। बीना (पत्नी) मेरे एक एक्टर की रिश्तेदार थी। उसे देखा, तो बस पहली नज़र में प्यार हो गया। इससे पहले भी दो-तीन छोटे-मोटे अफेयर हुए, टूटे। उन दिनों मैं ज़रा डिस्टर्ब भी था। वहाँ मुझे डेढ़ महीने रहना था। इतने कम समय के परिचय के बाद मैंने उसके सामने शादी का प्रस्ताव रखा। तैयार वह भी थी, किंतु हमारे घर वाले किसी हालत में रजामंद होंगे नहीं, यह हम दोनों जानते थे। ख़ैर, कर ली हमने शादी। उन्हें मालूम तो होना ही था। मैं दिवाली पर उसे लेकर पानीपत गया भी, पर उस माहौल में रह नहीं पाया।

**उस माहौल में... मतलब.?**

– दरअसल बीना क्रिश्चन है। हालाँकि उसके परदादा राजपूत 'डंडेल' थे और उन्होंने धर्मांतरण कर लिया था पर दोनों परिवारों की असहमति की वजह यही थी। ख़ैर, हम वापस दिल्ली आ गए। बच्चे भी हो गए। तब समझ आ गया कि अब कुछ और तो करना पड़ेगा। सिर्फ़ फ्रीलांसर नाटक-निर्देशन से घर की गाड़ी चलेगी नहीं।

**आप तो एक संपन्न उद्यमी परिवार से हैं, आर्थिक परेशानी तो होनी नहीं चाहिए थी?**

– आप कह तो ठीक रही हैं किंतु मेरी अपनी ख़ुद्दारी भी तो थी। एक तो मैं घर के व्यवसाय में कोई सहयोग न देकर, अपनी राह बनाने घर से निकल आया। उस पर वहीं से पैसे मंगवाऊँ, यह कैसे हो सकता था। हाँ, कुछ समय बाद वहीं रहने का फ़ैसला किया भी और हम बच्चों को लेकर पानीपत चले गए। मैंने अपना पैतृक काम सीखने की कोशिश की। जितना बताया जाता मैं उसे पूरे मन से कर देता। अपनी तरफ़ से ना मेरी कोई सोच थी, ना पहल, ना ही कोई दिलचस्पी। यही सच है।

**पत्नी बीना के प्रति परिवार का रवैया कैसा था?**

– बस ठीक-ठाक था। मेरी माँ बहुत ज़्यादा सरल स्वभाव की थी। बीना वहाँ ख़ुद को बड़ा अकेला महसूस करती थी और दुखी रहती थी। उसी वक़्त मैंने एक हरियाणवी सिनेमा भी किया और उसकी डबिंग के लिए मेरा पहली बार मुंबई आना हुआ। खुद को बड़े स्क्रीन पर पहली बार देखा तो लगा, यार, यह चेहरा तो फ़िल्मों के लिए बना है! तभी एनएसडी से बुलावा आया कि थर्ड ईयर के विद्यार्थियों का एक नाटक निर्देशित करना है और बस 'अंधा क्या चाहे दो आंखें' मेरे तो जैसे पर लग गए। मैं फिर आ गया दिल्ली। अब तक मेरे पिताजी भी समझ चुके थे कि मैं मजबूरीवश वहाँ रह रहा था पर अंदर की ख़ुशी मुझे अपना मनचाहा काम करके ही मिल सकती है और बाद में उन्होंने पैतृक संपत्ति से मुझे मेरा हिस्सा सहर्ष दे दिया। जबकि उस वक़्त ना मैं पानीपत में था और ना ही मैंने उनसे इस विषय में कुछ कहा या माँगा।

**इतनी सहजता से संपत्ति के प्रकरण परिवार में सुलझते नहीं!**

– बिल्कुल सही कह रही हैं आप। मुझे यह स्वीकार करने में ज़रा भी दुविधा नहीं है कि आज मैं जो कुछ भी हूँ मेरे पिता की सहृदयता की वजह से हूँ। हमारे यहाँ शुरू से ही ऐसा माहौल रहा कि किसी के साथ ज़ोर ज़बरदस्ती नहीं लादी जाती। पढ़ाई, काम का चुनाव सब मैं अपने मन का इसीलिए कर पाया क्योंकि मेरे माता-पिता सहज ही राज़ी हो गए थे।

आपको जानकर आश्चर्य होगा कि बचपन में ही एक दुर्घटना के कारण मेरे पिताजी का एक हाथ काटना पड़ा था। सिर्फ़ एक बाएँ हाथ के सहारे कड़ा श्रम करके इतनी दूर तक गए। हमारे यहाँ अग्रवाल समाज में ऊन के व्यवसाय को अच्छी नज़र से नहीं देखा जाता था। ऊन के रेशे भेड़ों की त्वचा से काटकर या खींचकर निकाले जाते थे इसलिए। पिताजी थोड़ी खुली सोच के व्यक्ति थे। उन्होंने साहस करके, श्रम करके यही व्यवसाय अपनाया और जैसा कि होता है व्यापार में बड़े-बड़े नफ़े-नुक़सान भी झेले। एक बार तो हमारी एक ऊन की फैक्ट्री को सरकार ने टेक ओवर तक कर लिया था। इतना कुछ होने के बाद भी परिवार को लेकर हमेशा वे सहज सामान्य बने रहे। कभी धूप तो कभी छाँव मानकर निर्विकार रहा करते। उनमें वह चालूपंथी नहीं थी, जो अमूमन व्यापारियों में होती है।

**काम आपने जहाँ भी किया, भले रंगमंच हो या टेलीविज़न या फिर फ़िल्में...। आपके काम को अंडर लाइन हमेशा किया गया?**

– मैंने जैसा आपको पहले बताया कि मैं हरियाणवी फ़िल्म की डबिंग करने मुंबई आया 'भँवर चमेली' नाम की इस फ़िल्म के डायरेक्टर थे गुलशन सचदेवा। कलाकार थे शशि रंजन तथा रमा विज। यहाँ आने के बाद मेरी सोच बदली। पानीपत से दिल्ली अपडाउन कर रहा था अब तक। वहाँ फैक्ट्री का काम भी कर रहा था, पर ठहराव जैसा कुछ था नहीं। मेरी इस छटपटाहट को मेरे पिताजी ने समझा और मेरा रास्ता आसान हो गया। मैंने सोचा, जब पानीपत से निकलना ही है तो दिल्ली ही क्यों, मुंबई क्यों नहीं? बस, बच्चों सहित गाड़ी में बैठकर यहाँ चला आया। भाड़े का घर लिया और जीवन संग्राम में कूद पड़ा। कई लोगों ने मेरा मज़ाक उड़ाया कि गाड़ी में गृहस्थी लेकर स्ट्रगल करने आए हैं जनाब! भीतर ही भीतर यह सोच भी रही होगी कि इस क्षेत्र के भीषण घर्षण के बाद आगे कितने दिन टिकेगा, देखते हैं। संयोग से यहाँ आने के दो महीने बाद ही मुझे

टेलीविजन में काम मिल गया। रंगकर्म तो चल ही रहा था। मुझे काम मांगने कभी कहीं जाना नहीं पड़ा। एक के बाद दूसरा काम लगातार मिलता गया।

**तभी तो पाँच वर्ष में चालीस धारावाहिकों में काम करके, लिम्का बुक रिकॉर्ड में राजेन्द्र गुप्ता का नाम दर्ज हो गया।**

– उस वक़्त टी.वी. के साथ-साथ फ़िल्में भी कर रहा था। 'अगला मौसम,' 'यह वह मंज़िल तो नहीं' इत्यादि अनेक फ़िल्में की। मैंने कहीं नोट करके कुछ नहीं रखा, कि कब-कब कितना और कहाँ-कहाँ काम किया। आज काम किया, वह याद रहता है, कल क्या करना है उसे याद रखना है, बस।

**उस वक़्त धारावाहिक सप्ताह में एक दिन हुआ करते थे। आज की तरह पाँच दिन नहीं। क्या इसीलिए आप फ़िल्में और रंगकर्म भी साथ-साथ कर पाए?**

– यह बात भी है। आज तो टेलीविजन वाला उसी में जकड़ जाता है। 'तर्पण', 'रजनी', 'कहाँ गए वो लोग', 'कबीर' 'इंतज़ार' इत्यादि में मुख्य किरदार करने के अवसर मिले। पैसा भी मिला और संतोष भी।

**आपने रंगकर्म, टेलीविजन और फ़िल्म में तीनों में ही काम किया। तुलनात्मक दृष्टि से क्या फ़र्क़ महसूस किया तीनों के बीच?**

– देखिए रंगमंच मेरा पहला प्यार है उससे तो मुझे सुकून हमेशा मिलता रहा। पैसा भले कम मिला। तो उसे छोड़ने का कभी मैंने नहीं सोचा। दूसरी तरफ़ मुड़ना मेरी विवशता थी। वहाँ भी अंधाधुंध काम मिलता रहा, मेरा एडिक्शन है। हाँ... टेलीविजन में लगातार वर्षों तक काम करते रहने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर ज़रूर पहुँचा कि यह माध्यम आपको पैसा भले दे दे किंतु कैरियर को कहीं ले जा नहीं सकता। जब तक आप एक रोल में हैं, लोग याद रखते हैं। जैसे ही वह समाप्त हुआ भूल जाते हैं। उस वक़्त के धारावाहिक आज की तरह वर्षों तक घसीटे नहीं जाते थे। ज़्यादा से ज़्यादा 52 और बहुत हुआ तो 104 एपिसोड बस। एक सच और कि फ़िल्मों में भी रोज़ दिखने वाले चेहरे को नहीं लेना चाहते। तब कुछ नया चैलेंजिंग जैसा होने की गुंजाइश कम बचती है।

**एक ही तरह का काम करते-करते ऊब भी तो होने लगती होगी?**

– बिल्कुल होती है। पर ठहरना मुझे ज़रा भी पसंद नहीं। एक सच और भी है। फ़िल्म वाले छोटे रोल व नए नाम को भी पर्दे पर कास्टिंग में देते हैं जिससे पहचान मिलती है, जबकि टेलीविज़न में मुख्य किरदारों के भी नामों का उल्लेख नहीं होता। हाँ, छोटे से छोटे टेक्नीशियन का नाम ज़रूर पर्दे पर आता है। यह सारी विडंबना है इस क्षेत्र की। शुरुआत में सिर्फ़ दूरदर्शन था तो ऐसा नहीं था। जबसे कमर्शियल चैनलों का संजाल बिछा, तब से यह होने लगा। ऐसा तो विदेशों में भी नहीं होता है।

**'चिड़िया घर' के केसरीनाथ जी (बाबूजी) तो सप्ताह में पाँचों दिन दिखते थे?**

– हाँ, कुछ दिन उकता कर घर बैठा, फिर यह 'चिड़िया घर' ले लिया। तब व्यस्तता बढ़ गई। उसी दौरान फ़िल्में भी अच्छी-अच्छी कीं। 'तनु वेड्स मनु' के दोनों भागों में, फिर 'बॉबी जासूस', 'पान सिंह तोमर' और भी कई फ़िल्में कीं।

**'पान सिंह तोमर' वाला आपका कोच का रोल अलग भी था और अनूठा भी, जो सबको आज भी याद है।**

– उसे करके बड़ा मज़ा आया। बहुत बढ़िया रोल था। दरअसल सामने से कोई प्रस्ताव आए तो उसे मना कर नहीं पाता मैं, यह मेरा गुण है या दोष मुझे नहीं पता।

**'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' हो या 'संविधान' या फिर 'कबीर' इन सब के किरदार तो हमेशा याद रहने वाले हैं।**

– कुछ ऐसे रोल ज़रूर हैं। श्याम बेनेगल के साथ काम करने का आनंद और उपलब्धि कैसे भूले जा सकते हैं! फ़िल्मों में भी अनेक रोल लगातार मिलते रहे। कम प्रसिद्ध प्रोड्यूसर या स्टार कास्ट के साथ, जो चले, ना चले कोई भरोसा नहीं। जैसा मैंने बताया इन सब से उकता कर कुछ दिन काम बंद किया और फिर 'लगान' ली। मुझे उसका हिस्सा बनने का गर्व है। बाद में गहराई से सोचा कि मेरे मुखिया वाले रोल में करने

का कुछ विशेष था नहीं। उस तरह के रोल तो पहले भी बहुत कर चुका था। तभी विज्ञापन के क्षेत्र में मेरी एंट्री हो गई थी।

**... वह सीमेंट वाला विज्ञापन।**

– बिरला वालों का, वह मुखिया का 'लगान' वाला लुक ही रखा। 'इस सीमेंट में जान है'।

**जान तो आपकी दमदार आवाज़ में भी बहुत है गुप्ता जी! इसका फ़ायदा तो मिला ही होगा?**

– यह तो आप दर्शक ही जानें। वैसे मुझसे भी ज़्यादा अच्छी आवाज़ वाले हैं हमारी लाइन में।

**अब ज़रा रंगकर्म की तरफ वापस लौटते हैं।**

– उकताहट के दिनों में सोचा था कि बस अब अच्छे नाटक करूँगा और बढ़िया रोल वाली फ़िल्में। दो-तीन वर्ष जमकर किया भी यही। 'सर सर सरला' सोनाली कुलकर्णी, अनुराग कश्यप और मैं। वह नाटक बहुत पसंद किया गया। मकरंद देशपांडे के साथ। नीना गुप्ता के साथ नाटक 'सूरज की पहली किरण'। उसी समय एनएसडी के लिए एक नाटक का निर्देशित किया 'ज़िल्लेसुभानी'। अंग्रेज़ी में भी दो-तीन प्ले किए। 'कन्यादान' विजय तेंदुलकर की कहानी जिसे लिलेट दुबे के साथ किया। ख़ासा पसंद किया गया आज भी चल रहा है। अंग्रेज़ी में चाणक्यशास्त्र भी किया। रंगकर्म मेरी प्राणवायु है और वह हमेशा मेरे साथ रहेगी।

**संतोष करने के लिए बहुत कुछ है आपके पास?**

– वह तो है। एक तरफ़ टेलीविज़न में निरंतर काम जिसमें 'डिस्कवरी' के श्याम जी के साथ काम करने का सौभाग्य। फिर 'यात्रा', 'काला जल', 'रावण' जैसे किरदारों को जीने का मौक़ा मिला। उन दिनों बड़े-बड़े साहित्यकारों की कहानियों पर एक घंटे की टेलीफ़िल्में बनती थीं। उनमें काम करके मेरी रचनात्मकता को प्रेरणा मिलती थी। 'परसा' गुरुदयाल सिंह ढिल्लों के उपन्यास का मुख्य किरदार मैने किया 'सरसों के फूल' के तहत कई टेलीफ़िल्में भी कीं। वे सब बेहतरीन चीज़ें थीं, जिन्हें कला व साहित्य प्रेमी दर्शक आज भी देख कर सराहते हैं। मैं भूल गया पर वे नहीं भूले।

**तीनों ही माध्यमों के बीच यदि चुनाव करना हो तो किसे चुनेंगे?**

– देखूँगा पहले कि अभिनेता के बतौर कौन सा रोल नया और चुनौतीपूर्ण है, जिसे करके मुझे भी मज़ा आए और दर्शकों को भी। सीरियल तो क़तई नहीं। हाँ, फ़िल्मों को प्राथमिकता दूँगा। यदि फ़िल्म का रोल छोटा है, नाटक में बड़ा और बढ़िया तो फिर नाटक ही करुँगा। करने से पहले यह ज़रूर देखूँगा कि अच्छा प्रोडक्शन है या नहीं, और 'शौक़िया' नहीं 'सार्थक' करने वाले लोग तो हैं ना। तो फिर नाटक ही मेरी प्राथमिकता होगी।

**हिंदी साहित्य से आपका गहरा अनुराग है। हमने कई बार आपको कहानी-व्यंग्य पढ़ते, अपनी भारी गूँजती आवाज़ में ख्यातनाम कवियों की कविताएँ पढ़ते सुना है। ज़ाहिर है साहित्य की गहरी समझ के बिना अदायगी में जान आ नहीं सकती।**

– रंगकर्म के आदमी को साहित्य से लगाव होना लाज़मी है। ज़रूरी भी। नाटकों के माध्यम से साहित्य ही तो पढ़ाया जाता है। देश भर का हिंदी थिएटर डायरेक्ट साहित्य से जुड़ा हुआ है। साहित्यकार ही हमेशा नाटक लिखते रहे हैं। मोहन राकेश, विजय तेंदुलकर, धर्मवीर भारती सभी साहित्य के लोग हैं। विदेशी रंगकर्मी लेखक भी प्रसिद्ध साहित्यकार ही हैं। मेरा बैकग्राउंड साहित्य का नहीं रहा कभी, किंतु रंगकर्म के कारण मैं साहित्यानुरागी बन गया। फ्रीलांसर निर्देशक होने के नाते रंगकर्म का निर्देशन करने जगह-जगह बुलाया जाता तो स्वाभाविक रूप से कहानियों के माध्यम से साहित्य में पैठ बढ़ती गई। अपने अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि मुंबई के रंगमंच में साहित्य कम है अन्य विषयों की बनिस्बत। थियेटर मोटे तौर पर दो तरह के होते हैं। एक 'शौक़िया' और दूसरा 'सार्थक'। यहाँ शौक़िया ज़्यादा होता है जबकि क्षेत्रीय भाषाओं का रंगकर्म सार्थक होता है।

**आजकल नई तकनीक के चलते युवा पीढ़ी के फ़िल्मकार नए-नए प्रयोग कर रहे हैं। आप इस परिवर्तन को किस तरह देखते हैं?**

– अभिनेता को इससे कोई विशेष फ़र्क़ नहीं पड़ता है। उसे तो हर हाल में अपने किरदार में डूब कर अभिनय करना है जो पहले भी करता था और आज भी करता है।

**सोशल मीडिया के मौजूदा हालात हम सब से अछूते नहीं हैं। इस पर कुछ कहना चाहेंगे?**

– मुझे लगता है सामाजिक स्तर पर रोज़मर्रा के जीवन में इतनी उलटफेर है नहीं, जितना हौव्वा सोशल मीडिया पर फैलाया जा रहा है। यह हौव्वा राजनीति प्रेरित है और सोशल मीडिया द्वारा प्रायोजित। मैं तो इतना बाहर जाता रहता हूँ। हर वर्ग, जाति तथा धर्म के लोगों के साथ काम करता हूँ। मुझे आज तक कोई कटु अनुभव कभी नहीं हुआ। सब पार्टी और पॉवर के मामले हैं। अख़बार टेलीविज़न या सोशल मीडिया को बेचने के लिए कुछ न कुछ चाहिये। गुडी–गुडी माहौल ज़्यादा नहीं चलता तो नित नई सनसनीख़ेज़ के जुगाड़ ने बेड़ा ग़र्क़ कर के रखा है। इस पर ज़्यादा ध्यान देना ही नहीं चाहिए।

**अभिव्यक्ति की आज़ादी को लेकर आप क्या सोचते हैं?**

– यक़ीनन, सच कहने से किसी को रोकना बर्बरता है। किंतु आम लोगों को सच्चाई समझ इसलिए नहीं आती कि गधों और घोड़ों का घाल–मेल हो रहा है। पता ही नहीं चलता कि घटना के पीछे हाथ किसका है? दरअसल व्यक्तिगत स्तर पर तो कभी मुझे किसी अप्रियता का सामना नहीं करना पड़ा। संस्थागत स्तर पर मैं कह नहीं सकता क्योंकि मुझे संस्थाओं पर विश्वास कभी रहा नहीं। इसीलिए तो मैंने कभी कोई संस्था नहीं बनाई। यह सच भी है कि बिना स्वार्थ के संस्थाएँ बनती भी नहीं हैं।

**अभी नया क्या कर रहे हैं?**

– दादा लख्मी हरियाणा में एक लोक गायक हुए हैं उन पर यशपाल कुछ काम कर रहे थे। उसके लिए हरियाणा के छोटे से मुस्लिम बहुल इलाके जो 'सरसा' के पास है, शूटिंग करके आया हूँ। यह गाँव राजस्थान व हरियाणा के बॉर्डर पर है। बड़ा सौहार्द पूर्ण वातावरण है। हमने इतने दिन काम किया। वैसी कोई बाधा आयी नहीं जैसी कि प्रचारित की गयी थी। तब मैं कैसे मान लूँ कि बड़ा उलटफेर हो रहा है जाति, धर्म, वर्ण, विचार के स्तर पर जबकि रोज़मर्रा के जीवन में ऐसा कुछ नज़र नहीं आता।

**'दादा लखमी' में आपका किरदार क्या है?**

– दादा लखमी बचपन से ही संगीत का शौक़ीन था। इस कहानी में प्रथम गुरु बना हूँ।

**यह फ़िल्म पूरी हो गई?**

– हाँ। इसे कई छोटे–छोटे फ़िल्म फेस्टिवल में दिखाया गया है। काफ़ी सराहना मिली है। पुरस्कार भी मिले हैं। कोरोना की वजह से अभी थियेटर में रिलीज़ नहीं हुई है। वैसे भी ऐसी फ़िल्मों को दर्शकों तक पहुँचने में थोड़ा समय लगता है।

**कोरोना महामारी के दौरान आपने चुनिंदा रचनाकारों की कविताएँ सोशल मीडिया पर सुनाईं। निरंतर पढ़ना, शोध करना, फिर चयन करना...... इस तरह आपने समय का बेहतर सदुपयोग किया।**

– समय को मापने का मेरा पैमाना थोड़ा सा अलग है। आपको जो काम करना है, वह ज़रूर होता है। समय नियोजन और थोड़ी इच्छाशक्ति की ज़रूरत होती है। और 'समय नहीं मिला इस वजह से काम नहीं हो सका' यह तर्क मैं कभी देता नहीं। महत्व इस बात का भी है कि आप किस कार्य को प्राथमिकता देते हैं।

पिछले दो वर्षों में कई फ़िल्में कीं। एक है 'अनफेयर और लवली'। एक साँवली लड़की की कहानी है। हरियाणवी पृष्ठभूमि है। इसमें रणदीप हुड्डा और एलिना डिक्रूज मुख्य भूमिका में हैं। मेरा किरदार काफ़ी मज़ेदार है। फ़िल्म का विषय भी बड़ा दिलचस्प है। ज़रूर वह दर्शकों का भरपूर मनोरंजन करेगी। पूरी तो वह पाँच–छः महीने में हो गई थी पर ओटीटी पर लाना नहीं चाहते इसलिए इंतज़ार कर रहे हैं कि बड़े पर्दे पर लाए। क्योंकि फ़िल्म को व्यावसायिक दृष्टि से भी सफलता बड़े पर्दे पर आने से ही मिलती है।

**अन्य कौन सी फ़िल्में रहीं?**

– 'सत्यमेव जयते' दो, जिसमें जॉन अब्राहम है। इस नाम की पहले जो फ़िल्म आई, काफ़ी चली थी तो उसका पार्ट टू बनाया है और वे लोग भी उसे बड़े पर्दे पर ही रिलीज़ करना चाहते हैं। बढ़िया फ़िल्म है। एक और फ़िल्म की है जिसमें जया बच्चन और मैं हूँ।

**अरे वाह यह तो कमाल की जोड़ी होगी। बहुत समय बाद जया बच्चन पर्दे पर दिखेंगी?**

– हाँ, कई वर्षों बाद कमबैक है उनका। वह नहीं चाहती थीं करना, पर जब उनसे कहा गया कि उस

रोल को उन्हीं को ध्यान में रखकर ही लिखा गया है तब उन्होंने उसे पढ़ा, और पसंद आ गया तभी करने को तैयार हुईं। उसका नाम पहले 'शानदार' रखा गया था। पर शायद अब कुछ दूसरा रखेंगे। उसके बाद दो फ़िल्में और कीं। एक की शूटिंग हैदराबाद में चल रही है। नाम है 'छत्रपति'। कुछ वर्ष पूर्व इसी नाम से तेलुगु की बड़ी हिट फ़िल्म आई थी और उसके दो कलाकार पर पर्दे पर छा गए थे। 'छत्रपति' को अब हिंदी में बनाया जा रहा है।

**यह अलग तरह का अनुभव होगा आपको?**

– बिल्कुल। साउथ का काम करने का तरीक़ा हमारे यहाँ से काफ़ी अलग है। लोग बड़े धैर्य से और बड़े एलोबरेट तरीके से काम करते हैं। उनके एक्शन सीन वगैरह का तो कहना ही क्या! काफ़ी कुछ नया सीखने को मिलता है। अहमदाबाद में एक दूसरी फ़िल्म की शूटिंग चल रही है। अगले महीने फिर जाना है। उसका नाम है 'ककू ड़ा'। कुछ समय पहले 'स्त्री' नाम से एक फ़िल्म आई थी। उस तरह की है। जिसमें थोड़ा थ्रिल है, थोड़ा एक्शन, थोड़ा सुपर नेचुरल एलिमेंट, थोड़ी कॉमेडी। मिली-जुली कहानी है। इस बीच सोशल मीडिया पर मैंने कहानी पढ़ी तो मज़ा आया। कविताओं को पढ़ना तो लगातार चल ही रहा है, क्योंकि वह मेरा पैशन है। एक-दो नाटकों की योजनाएँ हैं पर उसके लिए जैसा माहौल अभी है, थोड़ा इंतजार करना पड़ेगा। जब दर्शक थिएटर तक आ सकेंगे, नाटक भी तभी हो सकेंगे।

**आप तीन-चार विधाओं में समानांतर सक्रिय हैं। अद्‌भुत है यह!**

– मुझे बाज़ार के नियम कभी समझ आते ही नहीं और ना कभी कोशिश की। अपने किए गए कार्यों का ना कभी ब्यौरा रखा, ना हिसाब, न प्रकाशित कतरनें। बस, जैसा हूँ वैसा हूँ। लोग ज़िंदगी को दुकान बना देते हैं। चौबीस घंटे क्यों बने रहना चाहते हैं दुकानदार मैं समझ नहीं पाता?

**रचनात्मक व्यक्ति के लिए यह स्वभाव तो वरदान की तरह है।**

– यह आदत अच्छी है या बुरी, दी टेलीविज़न ने है। इरादतन मैंने इसे नहीं साधा है। गुज़रे हुए को सोचने का वक़्त कभी मिला ही नहीं। यदि वह करने बैठ जाता तो कल क्या करना है उसे कैसे तैयार करता।

**भूलने की आदत क्या व्यक्तिगत जीवन में भी है?**

– जीवन में शायद उतना तो नहीं होता होगा। फिर भी बीती बातों को पीछे छोड़ता चलता हूँ। जहाँ तक रोल का सवाल है, कोई बहुत अच्छा काम किया तो दो-तीन घंटे उसकी ख़ुशी द्रवित करती है। ख़राब किया तो उसकी कचोट भी उतनी ही रहती है किंतु जैसे ही सुबह उठा, तब सब भूल चुका होता हूँ। रात गई, बात गई। कभी उम्मीद से ज़्यादा अच्छा काम कर गुज़रें, बहुत सराहना मिली, तो लगता है अब ऊपर भी चले जाएँ तो कोई ग़म नहीं। यह अनुभव कला के क्षेत्र में ही हो सकते हैं।

**कोई यादगार पल?**

– एक घटना का यहाँ ज़िक्र करना चाहूँगा। दिल्ली से पानीपत जाना पड़ा। वहाँ व्यवसाय सीखने, करने की पूरे मन से कोशिश कर रहा था। दो-तीन वर्ष शायद इसी कशमकश में निकल गए होंगे। एक दिन बी.वी कारंत जी का फोन आता है कि एनएसडी में थर्ड ईयर के लिए एक नाटक का निर्देशन करना है आ जाओ। विजय तेंदुलकर का 'ख़ामोश अदालत जारी है'। सुनते ही जैसे मेरे पूरे शरीर में सनसनी दौड़ गई थी। बिना आगा पीछा सोचे तुरंत पहुँच गया दिल्ली और वे पल मैं भूला नहीं।

**क़रीब 22 वर्ष पूर्व आप ही के आँगन में चौपाल की परिकल्पना हुई थी। आज लहलहा रहे बरगद की माफ़िक अपनी जड़ें महानगर की कंक्रीली ज़मीन में जमा चुका है, इसके बारे में भी कुछ कहें।**

– चौपाल, महानगर के ख़ुरदरेपन से निपटने के लिए एक सकारात्मक ऊर्जा देने वाला स्रोत है मेरे लिए। हम चार-पाँच समान सोच वाले विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत लोगों ने इसकी रूपरेखा तैयार की तथा उसे ज़मीं पर उतारा। विघटन के मूल कारक, पद, प्रचार और पैसे से इसे दूर रखा तथा सात्विक ज्ञानरंजन तथा स्तरीय मनोरंजन का लक्ष्य लेकर शुरुआत की थी। उम्मीद से ज़्यादा उसे फलता देख संतोष होता ही है।

**रंगमंच आपका पहला प्यार है और उसके लिए आज भी आप अपने भीतर लगाव और करने की अकुलाहट पाते हैं। इस क्षेत्र में अब ख़ासा परिवर्तन आ गया है। नाटक अब पूरी तरह से कमर्शियल हो गया है। मौजूदा हालात में रंगकर्म को आप कहाँ पाते हैं?**

– रंगकर्म ही क्यों, हर क्षेत्र में आज कमर्शियलाइज़ेशन पर ज़्यादा फोकस है। दरअसल इंसान ने अपनी ज़रूरतों को इतना ज़्यादा बढ़ा लिया है और वह बेतहाशा एक अंधी दौड़ में शामिल हो रहा है, बिना यह सोचे समझे कि उसे जाना कहाँ था और जा कहाँ रहा है। इस समस्या की जड़, बढ़ता बाज़ारवाद है। बाज़ारवाद पूरी तरह से विज्ञापन जगत की गिरफ़्त में है। एक रुपये की चीज़ विज्ञापनों के कारण 50 रुपए में बिकती है। जिसका मुआवज़ा वे भरते हैं, जिनकी ताक़त ही नहीं है इतना खर्च करने की, फिर भी करते हैं। कभी उस चीज़ की ज़रूरत होती है और कभी विज्ञापनों का विमोह उन्हें भरमाता है।

**व्यावसायिकता हर क्षेत्र में गहरा रही है। जब तक आपका नाम ना हो जाए, तब तक आप को कोई पूछता नहीं।**

– काम तो करना पड़ता है और काम में दम होना सबसे बड़ी शर्त है। अब काम दिखाने के लिए, लोगों को बुलाने के लिए विज्ञापनों की शरण में जाना पड़ता है। इस तरह यह एक चक्रव्यूह है। जाने-अनजाने इसमें फंसना नियति है। देखिए! जब तक कलाकार स्ट्रगलर है। उसके भीतर एक जुनून होता है, अपने काम के प्रति। जैसे ही उसका नाम हो जाता है तो वह कमर्शियल सिस्टम का हिस्सा बनता चला जाता है। उसे नाम के साथ दाम भी चाहिए होता है। मुझे तो आज तक ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला जो कमर्शियल होना नहीं चाहता। यह विडंबना ही है कि काम के प्रति जुनून भी तभी तक रहता है जब तक उसका नाम नहीं होता। जैसे ही वह बिकने लगता है तो वह कमोडिटी बन जाता है और फिर वही सारा चक्कर शुरू हो जाता है। उसकी ज़रूरतें बढ़ती चली जाती हैं, पैसा आता चला जाता है। यह सब कुछ हम देख रहे हैं। अब यह तो व्यक्ति विशेष पर निर्भर करता है कि वह ज़रा थम कर सोचे, कि पैसा मिले या ना मिले, पर मैं अपने काम को ईमानदारी व जुनून के साथ करूँ। आत्मिक संतोष तो अंततः उसी से मिलता है। कहने का मतलब है कि सारी व्यावसायिक व्यवस्था में रहते हुए भी अपने काम के प्रति ईमानदारी रख पाना ज़रूरी है। इससे कम से कम कला के स्तर पर तो व्यवसाय का बोझ नहीं पड़ेगा। साथ ही हर कलाकार को अपने आत्मिक संतोष का स्रोत भी पहचान लेना ज़रूरी है। जो परितृप्ति संघर्ष के दिनों में बेहतरीन काम करने से मिला करती थी, उसकी प्राथमिकता पैसे को क़तई न दें।

**जी, बिल्कुल सही कहा। संतुष्टि तो कलाकार को मनचाहे काम में ही मिलती है।**

– अब यह उसकी विवशता है, नियति भी कि उसे इन्हीं विरोधाभासों में जीना पड़ता है। मैं नाटक की बात कहूँ, तो स्थिति बड़ी चिंताजनक है। हम चाहते हैं कि कोई नया नाटक करें। कोई यादगार काम करें। छटपटाते हैं इसके लिए, पर कोई नया नाटक सामने आता ही नहीं। बस, घूम फिर कर वही पुराने नाटक करते हैं। बेस्ट रोल, बेस्ट काम में ही अपनी संतुष्टि ढूंढना हमारी विवशता है, क्योंकि नये नाटक को बनाने के लिए जो लंबी श्रम साध्य प्रक्रिया है उससे सभी बचते हैं। क्योंकि पैसा तो फिर भी पुराने करके मिल ही रहा होता है। मैं ही क्यों, कई लोग हमारे क्षेत्र में रंगकर्म के जुनूनी हैं, जो सदा इस प्रतीक्षा में रहते हैं कि कुछ नया काम करने का अवसर मिले और कटु हक़ीक़त है कि ऐसा अक्सर होता नहीं है। बड़ी चिंता का विषय है। आपने जो व्यावसायिकता का प्रश्न उठाया तो मेरा कहना यही है कि व्यावसायिकता की विकट स्थिति के बावजूद, बेहतरीन काम करने वाले कलाकारों की कमी नहीं है। जो बढ़िया वह नया काम करना चाहते हैं। ख़ुद को पूरी तरह काम में झोंक भी कर सकते हैं पर कोई नया रचने के लिए आगे तो बढ़ें।

**आशंका यह भी तो रहती है कि वह नया नाटक दर्शकों की भीड़ जुटा भी पाएगा या नहीं। ऐसे में श्रम और पैसा दाँव पर कोई लगाना नहीं चाहता?**

– बिल्कुल, यही बात है। सच बात यह भी है कि आप अपने काम के प्रति ईमानदारी बरतते हैं तो ऐसे प्रयोग किए जाने चाहिए। जितना इंसान के पास है, उसमें संतोष धर ले तो रिस्क ली जा सकती है। कोई बहुत बड़ी मुश्किल नहीं है। पर लेता कोई नहीं। कोई अपने पास का पैसा गँवाना नहीं चाहता और अंधी दौड़ का हिस्सा बनता चला जाता है। दोष किसी एक व्यक्ति पर नहीं डाला जा सकता। दरअसल समूची व्यवस्था ही प्रदूषित हो चली है, तो कोई क्या करें। 1000-1500 की टिकट लेकर आम आदमी तो नाटक देखने जाएगा नहीं। बड़ी विषम स्थिति है। मेरा अपना विचार यह है कि यदि हमारी बेसिक ज़रूरतें पूरी हो रही हैं, तो अभिनेता के तौर पर आंतरिक संतुष्टि ही मेरा लक्ष्य होना चाहिए। मज़ा तो मनचाहा काम करके ही मिल सकता है। जबकि हमारा क्षेत्र रिसीविंग हैंड पर होता है। हर वक्त यह चिंता तो हमें रहती ही है कि ना जाने आगे कैसा वक़्त आए। काम मिले या ना मिले। फ़िल्में मिलें या ना मिलें। अच्छे और कलात्मक काम का घर पर बैठ कर

इंतजार भी करते हैं। कभी नहीं मिलता तो कभी मिल भी जाता है।

**सर! आप तो काम के व्यसनी इंसान हैं।**

– मैं ऐसा ही हूँ। अभी आप लोगों ने देखा ही होगा जब महामारी के कारण सभी घर में बैठने को अभिशप्त थे तो मैं बेचैन हो गया। मैंने कविताओं को खंगालना शुरू किया। फिर सोशल मीडिया पर उन्हें पढ़ने लगा। रसिकों ने उसे सराहा। अर्थात ख़ाली रहकर परेशान होने की जगह अनजाने ही एक बढ़िया काम हो गया।

**रोज़ एक कविता पोस्ट करने के लिए कितना कुछ परखा-पड़ताला।**

– समय ही तो काटना था मुझे और जिन्होंने कमाल का लिखा है, मैंने तो सिर्फ़ उसकी आवृत्ति की है। मैंने कोई रचना क्रिएट तो नहीं की। मैं मानता हूँ कि कविता साहित्य की वह विधा है जो तीन आयामों से गुज़र कर अपना रचा जाना सार्थक करती है। पहला जब वह रचनाकार के मानस में पकती है, दूसरा जब वह काग़ज़ों पर आखरों का रूप धर कर उतरती है और तीसरा जब वह किसी के कंठ से अपना अर्थ खोलती है।

**बिना साहित्य के लगाव और साहित्य की समझ के यह हो नहीं सकता था?**

– देखिए एनएसडी में पढ़ने के दौरान साहित्य तो मूल विषय होता ही है और रंगकर्म के विद्यार्थी को सिर्फ़ भारतीय साहित्य ही नहीं, विश्व साहित्य को भी पढ़ना पड़ता है और मेरा रुझान हमेशा अच्छे रचनाकारों को पढ़ते रहना था जो कभी कम नहीं हुआ। बहुत यात्राएँ करनी पड़ती हैं। उस वक़्त साहित्य पढ़ने का जो शौक़ है वह आसानी से पूरा किया जा सकता है। चूँकि मेरा चेहरा जाना हुआ और आवाज़ भी लोग पहचानते हैं ऐसे में बड़े-बड़े रचनाकारों की कविताएँ लोगों तक पहुँची इससे मुझे बड़ा सुख मिला। आप तो जानती हैं मैं तो टिपिकल व्यवसायी परिवार से हूँ जहाँ व्यवसाय के अतिरिक्त कोई शौक़ होता ही नहीं और यदि होता भी है तो ख़ुद उसे ही नहीं पता होता। इसलिए वैसे माहौल से निकलकर मैंने जब राह ही दूसरी चुनी तब समझ आया कि पैसे के अतिरिक्त और भी दुनिया में बहुत कुछ है जो आपको आंतरिक सुख दे सकता है। एक बार जब तलब लग जाती है तो फिर जीवन बदल जाता है। निश्चित रूप से मेरे अंतर्मन को संतुष्टि कला के क्षेत्र में कुछ करके ही मिलती है, यह तो तय है। कई बार देखा है कि रचनात्मक लोग संघर्ष के दिनों में अभाव तथा लोकनिंदा के दबाव में आकर अपनी राहें बदलने के लिए विवश हो जाते हैं। मेरे साथ ऐसा हुआ नहीं क्योंकि मेरे माता-पिता तथा परिवार का साथ व सहयोग रहा। मैं आश्वस्त था कि यह नहीं भी होगा तो मेरे पांव के नीचे कम से कम ज़मीन तो है। पर सब के साथ ऐसा नहीं होता। संघर्ष सब जगह होता है।

**हमने तो कई बार आपसे 'चौपाल' में कहानियाँ सुनी हैं।**

– हाँ, कई बार विचार आया और शुरुआत भी की है। कविताएँ 2 मिनट से लेकर 15 मिनट तक की करता हूँ। श्रोताओं की प्रतिक्रिया पढ़ कर यह लगा कि लंबी चीज़ों की बजाय छोटी चीज़ें कम समय में ज़्यादा जल्दी लोकप्रिय होती हैं। लघु कथाओं पर काम किया जा सकता है क्योंकि यहाँ सिनेमा और नाटक तो है नहीं कि सीन दर सीन आपको बांधे रखे। इसलिए जितनी छोटी चीज़ होगी, अधिक ग्राही होगी।

**आपने सिनेमा का वह दौर भी देखा है जब सिल्वर जुबली, गोल्डन जुबली और डायमंड जुबली तक पहुँचकर सिनेमा लोकप्रियता के नए इतिहास रचा करता था। जबकि आज सप्ताह भर चलकर भी कोई फ़िल्म अपनी लागत निकाल लेती है तो उसे सफल फ़िल्म मान लिया जाता है। प्रश्न यह है कि फ़िल्म बनाकर पैसा कमाने का ही लक्ष्य सर्वोपरि है? सामाजिक संदेश, मनोरंजन या ज्ञानवर्धन की सारी धारणाएं सिरे से ही ध्वंस्त हो गई लगती हैं। आप क्या कहते हैं?**

– मुझे नहीं लगता कि कभी ऐसा था कि सामाजिक सरोकार या ज्ञानवर्धन के लिए फ़िल्में बनती होंगी। कुछ अपवादों की बात छोड़ दें तो ऐसा कभी नहीं था। यह काम सरकार करवा सकती है, सामाजिक संस्थाएँ करवा सकती हैं, पर एक व्यक्ति सिर्फ़ सामाजिक सरोकार के लिए या ज्ञानवर्धन के लिए फ़िल्म बनाए, अपना पैसा लगाकर जुआ खेले, यह कभी होता नहीं। दरअसल कभी-कभी आदर्शवाद को हम जिस सतह पर रखते हैं वह थियरेटिकल लगता है बिल्कुल, जो कहीं भी एक्ज़िस्ट नहीं करता।

**तो आप कहते हैं कि फ़िल्मों से हमेशा पैसा कमाना ही मूल लक्ष्य था ?**

– फिर वहीं बात आ जाती है कि कला के क्षेत्र में जो दूसरे कलाकर्म हैं जैसे पेंटिंग है, लिखना है, तो उसमें मैं अपने आप को अपनी इच्छाओं पर लगाम लगा भी लूँ क्योंकि मुझे कुछ ख़ास खर्च करना नहीं है

अपनी जेब से। हालांकि रंग, केनवस काग़ज़, क़लम का ख़र्च तो फिर भी करना ही पड़ता है। इतना किया भी जा सकता है। फ़िल्म और टेलिविज़न बहुत महंगे क्षेत्र हैं। फोटोग्राफ़ी भी। एक व्यक्ति अपनी जेब से खर्च करके ऐसा नहीं कर सकता। एक वक़्त हमारे यहाँ समानांतर फ़िल्मों का दौर चला था। एफएफसी (फ़िल्म फाइनेंस कॉर्पोरेशन) ने आर्ट फ़िल्में बनाई थीं। तो दूसरे के पैसे से आप बनाइये कलात्मक चीज़ें और जुगालिये अपनी कलात्मक भूख को। मैं तो इस तरह भी देखता हूँ कि दूसरे के पैसे से रिस्क ली जा सकती है, ख़ुद का पैसा कोई नहीं लगाता। मेरी जानकारी में तो ऐसा कोई व्यक्ति दिखा नहीं। आपको मालूम हो तो बताइए?

**कुछ फ़िल्में तो इस तरह की बनी भी थीं उपकार, शहीद, सुजाता, दो बीघा ज़मीन इत्यादि।**

– हाँ, वही तो मैंने कहा कि कुछ अपवाद ज़रूर मिल सकते हैं। कुछ लोग हुए भी जो सामाजिक सरोकारों को साथ लेकर चलते थे और उन्होंने व्यवसाय तथा सामाजिक सरोकारों के बीच संतुलन बैठा कर फ़िल्में बनाई थीं। अब जैसे मनोज कुमार और गुरुदत्त आदि ने किया। उन्होंने ख़ुद का पैसा भी लगाया। यह विषय गहरा है और इसके कई आयाम हैं।

**ओटीटी के लिए बनने वाली फ़िल्मों का भविष्य आपकी राय में कैसा है? वह चार दिनों की चांदनी है, पानी के बुलबुले की मानिंद फुस्स हो जाने वाली या फिर आगे जाने वाली है। आपको नहीं लगता कि ये फ़िल्में सिर्फ उच्च वर्ग को ध्यान में रखकर बनाई जाती हैं। आप क्या कहते हैं?**

– देखिए हमारे देश में ख़त्म कुछ नहीं होता। नई चीज़ आती है और पुरानी को अपनाने वाले कभी कम नहीं होते। पीछे मुड़ कर देखें, नई चीज़ आती गई पर पुराना कुछ ख़त्म नहीं हुआ। रेडियो, फ़िल्में, टीवी सब के आने पर ऐसी आशंकाएँ ज़ाहिर की गयी थीं पर कुछ ख़त्म हुआ नहीं। दरअसल हिंदुस्तान की बढ़ती आबादी में सब चीज़ खप जाती है। हमारा समाज बड़ा फ्लेक्सिबल है। हर नई चीज़ को अपनाता है। पुराने को अपनाने के लिए नए लोग हर समय मौजूद रहते हैं। ओटीटी पर आने वाली फ़िल्मों में हिंसा, सेक्स और गालियों की भरमार होती है। जिनकी ज़रूरत नहीं है। पर लोग चाहते हैं इसलिए उन्हें परोसा जाता है। इस तरह की चीज़ें क्षणजीवी होती हैं। अपनी मौत ख़ुद ही मर जाती हैं। सच बात यह भी है कि इन सब के पीछे भी विज्ञापनों का संजाल है। हमने सन् 73 में एक नाटक किया था– 'वाह रे विज्ञापन'। उस समय उतनी समझ नहीं थी पर आज लगता है कि उसमें कितनी बड़ी बात कह दी गई थी। वह बाज़ार का दैत्य अब 500 गुना बड़ा हो गया है। सबका हेड बाज़ार है और बाज़ार का हेड है विज्ञापन। ओटीटी पर एक बात है कि हर व्यक्ति को अपनी क़िस्म का कंटेंट मिल जाता है। वायलेंस और सेक्स के कारण ही ये पापुलर हुआ है, जबकि इतनी हिंसा या सेक्स हमारे आस–पास है ही नहीं। 'मोहल्ला अस्सी' फ़िल्म में गाली गलौज की भरमार है लेकिन वहाँ वह भाषा के तौर पर विचार–विमर्श जैसा लगता है। गाली नहीं लगती। मुझे लगता है कि अन्य चीज़ों की तरह यह भी ख़त्म कभी नहीं होगा।

**आजकल धारावाहिकों का दर्शक वर्ग बदल गया है। कोई नयापन और ताज़गी नहीं....**

– इसके लिए मैं दर्शकों को इल्ज़ाम नहीं दे पाता हूँ। यह हमारे निर्माता–निर्देशकों का रिफ्यूज़ है। वे दर्शकों की शरण में जाकर बचना चाहते हैं। कहते हैं– जो वे चाहते हैं, वह उन्हें हम देते हैं। मैं दूसरी तरह से सोचता हूँ कि जो वह देखना चाहते हैं वही बनाते हैं और दर्शक तो देखने के लिए विवश है। क्या करे हिंदुस्तान का दर्शक। अधिकांश लोगों में शिक्षा नहीं है। उनको तो जो दोगे, वही देखते रहेंगे। मेहनत कोई करना नहीं चाहता। बस, जल्दी पैसा बनाना चाहते हैं। 'बुनियाद' 'हम लोग' 'इंतज़ार' का दौर दूरदर्शन का दौर था। व्यावसायिक वह भी था पर वे मेहनत करते थे। उस वक़्त एक एपिसोड शूट होने में 3 दिन लगते थे। आज 22 मिनट का एपिसोड 1 दिन में पूरा कर लिया जाता है। चैनल के प्रोड्यूसर के ऑफिसों को देखें तो एक छोटे से कमरे से शुरू होकर कुछ ही समय में पूरी बिल्डिंग बन जाती है। उनकी जैसी ग्रोथ तो फ़िल्म प्रोड्यूसर की भी नहीं होती। अब यदि वह कहे कि समाज के सरोकारों से उसका कोई लेना देना है तो वह सफ़ेद झूठ बोलते हैं। उनका ज़रा सा भी समाज से सरोकार नहीं होता। पहले कथावस्तु साहित्य से ली जाती थी और उस पर ख़ूब मेहनत होती थी। बनाने वालों की कलात्मक भूख भी शांत होती थी। पैसा कमाना लक्ष्य उनका भी था पर सिर्फ़ पैसा कमाना नहीं। समय बदला, पैसे की अंधी दौड़ शुरू हुई तो वे लोग उसमें नहीं ठहर सके। किनारा कर लिया। हमारी समानांतर फ़िल्में आईं। फिर दूरदर्शन ने बहुत बढ़िया टेली फ़िल्में बनाईं। जब से प्राइवेट चैनल का खेल शुरू हुआ सब बर्बाद हो गया।

**अपनी रचनात्मकता को किस तरह संतोष देते हैं अंदर बड़ी बेचैनी-सी रहती होगी?**

– क्या करें यह जीवन है इसमें अनगिनत विडम्बनाएँ हैं। जैसा है उसे स्वीकार करना पड़ेगा। न केवल कलाकार बल्कि अन्य क्षेत्रों में भी अनगिनत लोग न चाहते हुए भी इसी व्यवस्था में जी रहे हैं।

● ● ●

**दुर्भाग्य से लोगों ने आज पुस्तक पढ़ना बंद कर दिया है। लोगों ने देखना भी बंद कर दिया, पढ़ना तो बहुत दूर की बात है। देखना और देखना, सुनना और सुनना, पढ़ना और पढ़ना बहुत महत्वपूर्ण रहा है मेरी ज़िंदगी में। बेसिकली हम यही भूल गये।**

# संघर्ष से जागा कलाकार हूँ

जयंत देशमुख

साठ पार की उम्र में जयंत की रचनात्मक यात्रा के क़रीब चालीस बरस एक ऐसी दास्तान का फ़लसफ़ा रचते हैं जहाँ कला, कौशल और व्यवसाय का ताना-बाना नए सपने देख रही युवा पीढ़ी के लिए सबक़ की तरह क़ीमती है। जयंत की कहानी उस निम्न मध्यमवर्गीय हिन्दुस्तानी युवा की हसरतों, उम्मीदों और सपनों तथा जय-विजय की कहानी है जिसने खरोचों और ख़ुशियों को एक-सा अपने दामन में थामा। रायपुर में एक महाराष्ट्रीयन परिवार में जन्म हुआ। पिता एक मोटर साइकिल कंपनी में साधारण मुलाज़िम थे। माली हालत ठीक न थी। माँ ने घर-घर जाकर वाशिंग पावडर बेचा। जयंत के भीतर एक जन्मजात कलाकार था जो शब्दों, रंगों, दृश्यों और ध्वनियों में ही चैन तलाशता। समान रुचि की सोहबतें बनीं और तंगहाली के बावजूद अधपके हुनर ने अभिव्यक्ति के रास्ते तलाशना शुरू किये। बहुत आगे जाकर मालूम हुआ कि कला के संस्कार कब कौशल में और कौशल कब व्यवसाय में बदल जाते हैं। यह भी कि इसके रहस्य में गहरी लगन के कितने व्यापक अर्थ छुपे हैं।

जयंत बताते हैं- मुझे लगता है कि कला की बुनियादी समझ मेरे जीवन में रायपुर या बाद में भोपाल में भारत भवन के दौरान संचित हुई। उन सारी चीज़ों ने ही मुझे बनाया। मुम्बई के कला जगत के नाम पर थारो कॉमर्शियल वर्ल्ड है। आप आर्ट डायरेक्शन का मेरा काम देखेंगे और मेरे साथ के सारे लोगों का काम देखेंगे तो मेरे काम में और उन सारे लोगों के काम में यही सबसे बड़ा फ़र्क़ है कि मेरा काम तजुरबे से आया हुआ है, मेरी ठोकरों से आया हुआ है। मैं बिल्कुल प्रोफेशनली काम करता हूँ। आप ग़ौर करें- एक 'मक़बूल' फ़िल्म है, प्रोफेशनल फ़िल्म है। एक फ़िल्म 'दीवार' है जिसमें अमिताभ बच्चन हैं, प्रोफेशनल फ़िल्म है। 'आँखें' एक फ़िल्म है जिसमें अंधे रॉबरी करते हैं, प्रोफेशनल फ़िल्म है। संजय लीला भंसाली का एक शो है। 'ये रिश्ता क्या कहलाता है'। 'तारक मेहता का उल्टा चश्मा'। ये सारे कॉमर्शियल काम हैं। उस तरह से आर्ट का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है कि हुसैन की पेंटिंग हो, अकबर की पेंटिंग हो या सूज़ा की हो। वो कन्वर्जन है। वो उसका व्यवसायीकरण है।

जयंत कहते हैं कि कला सदा चित्त और मन से आती है। फिर आपके पास कौशल होता है, क्राफ्ट होता है। फिर आप क्राफ्ट से उसको कन्वर्ट करते हैं। जो आपका चित्त कहता है, जो आपका मन कहता है वो आप पेंट करते हैं, वो आप बनाते हैं। उसके बाद धीरे-धीरे काम करते हुए आप उसका कौशल सीख जाते हैं और कौशल ही आपको उस व्यवसाय की दुनिया में लाता है। जयंत जोड़ते हैं कि पिछले तीस साल में क़रीब नब्बे फ़िल्में मैंने की हैं, उसमें से एक या दो फ़िल्में रिलीज नहीं हुई हैं। तीस-चालीस टेलीविजन शोज़ मैंने किये हैं। 'सरस्वती चन्द्र', 'तारक मेहता का उल्टा चश्मा', 'बेगू सराय' इत्यादि। अपना मन, चित्त, कौशल और व्यवसाय, इसके बीच में आपको अपने आपको बचाकर रखना बहुत ज़रूरी है। या तो व्यवसाय इतना बड़ा हो जायेगा या बाज़ार इतना बड़ा हो जायेगा कि आपको भ्रष्ट कर देगा। है भी। भ्रष्ट होते भी हैं लोग। मुझे लगता है उससे बचना जो है वो ही चित्त का, मन का कौशल है। मैंने हर संभव अपने मन और चित्त को सुना है।

इस बीच जयंत से एक सवाल कि जब आप कला के दायरे में प्रवेश करते हैं। आपको लगता है कि आपके भीतर वो कलाकार है, जो संघर्ष से जागा है। उसका रास्ता अलग है। उसका आग्रह अलग है। दूसरे समानान्तर रूप से आपके भीतर ये भी एक आग्रह और अपेक्षा बहुत ही लाज़िमी तौर पर बनती है कि क्या इससे मेरा जीविकोपार्जन हो सकेगा? ये जो द्वन्द्व बीच में आता है, इस द्वन्द्व से निकलना आसान आपके लिए था या नहीं?

आसान तो अभी भी नहीं है। भले मैंने बड़ी फ़िल्में की हैं, बड़ा पैसा भी मिलता है। एक तो मुम्बई में सबसे बड़ा संघर्ष पहले सर्वाइव करने का है। दूसरी बात, जिस तरह का आप काम करें, जैसा मैं काम करता हूँ। उससे सबका कन्वींस होना, बड़ी जद्दोजहद है इसमें। बहुत सारे लोग प्रोडक्शन डिज़ाइनर हैं, बहुत बड़े भी हैं, उसके बीच अपने आपको बचाकर रखने का संघर्ष। चूँकि मैं थियेटर से सिनेमा में गया हूँ। मेरी सबसे बड़ी मुश्किल है कि मैं ट्रेंड आदमी नहीं हूँ। मैंने किसी स्कूल-कॉलेज से डिग्री नहीं ली है। न मैंने ड्राईंग सीखी है, न मैंने पर्सपेक्टिव सीखा है। मैंने सब कुछ अपने क्रियात्मक अनुभव से सीखा है इसलिए उन सारे लोगों से अलग मेरा काम दिखता है। मैं बहुत सारा मन और चित्त से करता हूँ भले वो व्यावसायिक काम है।

जयंत अपना अनुभव साझा करते हुए कहते हैं कि टेलीविज़न में एक कहानी होती है जो हमें सुनायी जाती है। जब हम टेलीविजन का सेट लगाते हैं, उसमें प्रोड्यूसर होते हैं, डायरेक्टर होते हैं, चैनल के लोग होते हैं। प्रोडक्शन के क्रियेटिव लोग होते हैं। मतलब एक कहानी हमको बताते हैं कि ऐसी-ऐसी कहानी है। 'कलकत्ते में' इस नाम से अभी शो आ रहा है आप देखियेगा। मैंने वो कलकत्ता बनाया है मुम्बई में। ये कलकत्ता की कहानी है। प्रोडक्शन की मांग को पूरा करते हुए रियलिस्टिक की कोशिश करता हूँ। यही मेरी पहचान है।

मैं अभी भी गूगल पर पूरा भरोसा नहीं करता। मेरे अपने घर में, अपनी कमाई की, एक बहुत बड़ी लाइब्रेरी है। दुर्भाग्य से लोगों ने आज पुस्तक पढ़ना बंद कर दिया है। लोगों ने देखना भी बंद कर दिया, पढ़ना तो बहुत दूर की बात है। देखना और देखना, सुनना और सुनना, पढ़ना और पढ़ना बहुत महत्वपूर्ण रहा है मेरी ज़िंदगी में। बेसिकली हम यही भूल गये।

अपने मुँह से कहना थोड़ा ठीक नहीं लगता, हिन्दुस्तान में जो पाँच बड़े प्रोडक्शन डिज़ाइनर हैं उसमें से मैं एक हूँ, जो बिना पढ़ा-लिखा आदमी है। बाक़ी लोगों में कोई जे.जे. स्कूल से है, कोई कलकत्ता से है, कोई और कहीं से है। मैंने जो भी कुछ अपनी ज़मीन रची, अपने मज़दूरों के साथ, अपने कामगारों के साथ काम करते हुए रची। वो भाषा सीख ली, सिनेमा सीख लिया। क्योंकि आर्ट डायरेक्शन एक अलग चीज़ है और सिनेमा का आर्ट डायरेक्शन अलग चीज़ है। क्योंकि हम जो बनाते हैं वो आँख से देखने की नहीं, वो कैमरे से देखने की चीज़ है। हो सकता है आँख से आपको बहुत खराब लगे, लेकिन जैसे ही स्क्रीन पर होगा उसमें चार चाँद लग जायेंगे। प्रोडक्शन डिज़ाइनर या आर्ट डायरेक्टर जब खाली ज़मीन पर उसको बना हुआ देख लेता है तो वो अपने आप में सक्सेस है। उसके लिए बाकी ज़रूरत नहीं है। जैसे आप घर बनाते हैं, आर्किटेक्ट लेते हैं, फिर मज़दूर आता है, मज़दूर अपना काम करता है। पर वो घर बनेगा कैसे, यदि आपको मालूम है तो बाक़ी सरल है।

जयंत यह सब कहते-कहते फिर गुज़िश्ता दौर को याद करते हैं- स्टेपवाइज़ मेरी ज़िन्दगी रही- रायपुर, फिर भोपाल रंगमण्डल। रंगमण्डल बंद हो गया था और अचानक हवा में आ गये कि भारत भवन से बाहर निकलते ही आप क्या करेंगे? आपको परिवार पालना है और आप एकदम ज़ीरो हो गये कि अब क्या होगा, क्योंकि इस महीने तनख्वाह नहीं मिल रही है और घर पैसा नहीं भेजेंगे तो क्या होगा? अनुभव, प्रतिभा,

परिश्रम और क़िस्मत को पखरने का यही वक्त था। तभी मुंबई का आकाश खुला। यदि मैं कॉमर्शियल बात करूँ तो मेरी पहली फ़िल्म 'बेंडिट क्वीन' थी जिसमें मैं प्रॉप मास्टर था। उसके बाद बड़ी कॉमर्शियल फ़िल्म जिसके लिए मुझे बच्चन साहब से भी संदेश आया कि 'जयंत को कहो, नया बच्चा है अभी-अभी, अपने आपको दिखाने के चक्कर में सेट्स न बनाये, मैं डेट्स दे दूँगा'। एक फ़िल्म है 'आँखें' जिसमें बैंक रॉबरी होती है, अंधे लोग बैंक लूटते हैं। आपने देखा होगा एक प्लेटो है, प्लेटो में अंधों का घर है, उसके सामने अमिताभ बच्चन का घर है। वो एक तरह से मेरी पहली बड़ी कॉमर्शियल फ़िल्म थी।

बहरहाल, लोग कहते थे कि थियेटर का बंदा है, ये क्या कर लेगा सिनेमा-इनेमा, क्या जानता है सिनेमा? मुझे इतना बड़ा काम मेरे दोस्त ने दे दिया कि 'ये फ़िल्म तू करेगा'। फ़िल्म सिटी में जहाँ मैं वो सेट लगा रहा था वहाँ हवा बहुत चलती है, पानी बहुत आता है। लाइट पकड़कर भी वहाँ आप खड़े नहीं रह सकते। और मुझे अपने आपको प्रूव करना था, मुझे काम मिल गया था। मुझे लगा कि इसे नहीं किया मैंने, तो रायपुर का भी टिकिट नहीं मिलेगा मुझे।

अमिताभ बच्चन साहब के मेकअप मैन हैं दीपक सावन्त, मेरे अच्छे दोस्त हैं, उनके ज़रिये बच्चन साहब ने मैसेज भेजा। कहा कि 'जयंत को कहो मैं डेट दे दूँगा। वो अपने आपको प्रूव करने के चक्कर में है। सब प्रॉब्लम हो जायेगा। दूसरी तरफ प्रोड्यूसर कहता था कि डेट छोड़ूँगा नहीं मैं, तू बना। मैं दुविधा में था। दुविधा और गिरते पानी में ही वो सेट बना दिया।

मैं धीरे-धीरे मुम्बई शहर के कॉमर्शियल वर्ल्ड में आ गया। वहाँ प्रूव करना पड़ता है, दूसरा, यदि आप में माद्दा है, आप ईमानदार हैं और काम जानते हैं तो मैं दावे के साथ कहता हूँ कि मुम्बई आपका सम्मान ज़रूर करेगी। आपको प्रूव करना पड़ेगा। सिनेमा और टेलीविजन में बहुत सारा पैसा इनवॉल्व होता है। आप जानते हैं, सुनते हैं, पढ़ते हैं कि चार सौ करोड़ की फ़िल्म है। मैंने चार-चार, पाँच-पाँच, सात-सात करोड़ के सेट लगाये हैं। यदि आपने कभी 'जय सोमनाथ की' शो देखा हो, ज़ी टीवी पर आता था, वो ग्यारह किलोमीटर में फैला हुआ सेट था और सात करोड़ रुपये का सेट था। आज से दस साल पहले! आज उसकी कीमत क्या होगी सोच लीजिये। सबसे महँगा सेट मेरे ज़िम्मे लगाने के लिए आया। तो आपको प्रूव करना पड़ेगा।

तकनीकी मामले में अभी भी मुझे बहुत नहीं आता पर मेरे सराउण्डिंग जो लोग हैं, वो अंत में मुझे ही फॉलो करते हैं। क्योंकि जब हम बजट बनाते हैं तो सारा लिखते हैं और उसके बाद नीचे लिखते हैं- 'जयंत देशमुख च्वाइसः रुपये पाँच लाख'। बोलते हैं, ये क्या है? ये यह है कि जयंत सेट पर आयेगा, बोलेगा कि ये लाइट नहीं चाहिए, हटाओ। दूसरी लाइट लाओ, ये कलर चेंज करो, सोफा बहुत ख़राब है उसका कवर चेंज़ करो। ये हमको मालूम नहीं है, वो तो आने के बाद कहेगा भले ही एक पीपीटी बना दिया, रिफरेंसिंग कर दिया, शो के बारे में सब कर दिया। पर वो तो अजीब आदमी है। वो आता है और बोलता है- नहीं, नहीं, ये सोफ़ा ठीक नहीं है चेंज करो, कलर चेंज करो। ये टेबल ठीक नहीं है, ये गमला बहुत ही ख़राब है दूसरा लाओ। तो वो जयंत देशमुख च्वाइसः पाँच लाख रुपये। फिर धीरे-धीरे प्रोडक्शन हाउस की भी आदत हो जाती है, सिनेमा करने वालों की भी आदत हो जाती है। और जिस तरह का काम आप करते हैं फिर उसी काम के लिए लोग आपको ढूँढ़ते हैं।

अपनी अहमियत पैदा करना बहुत ज़रूरी है। लोगों को यह लगना चाहिए कि इस शो के लिए जयंत होना चाहिए और जब जयंत शो के लिए होना चाहिए, तो जयंत को इतना करना पड़ेगा कि वो मिसिंग लगना चाहिए। भले वो किसी और से बनवा लें, पर पूरे शो में कहते हैं- यार जयंत, तूने नहीं किया, जयंत तूने नहीं किया। ये जो कौशल और कौशल से व्यावसायिकता है, ऐसे व्यवसाय बन जाता है कि आप अपनी अहमियत पैदा करें। क्योंकि किसी भी प्रोड्यूसर को मैं दस लाख, पन्द्रह लाख, बीस लाख जो भी बोलता हूँ, हर प्रोड्यूसर बोलता है कि बजट नहीं है मेरे पास। मैं कहता हूँ- 'तो क्यों बना रहे हो भाई बजट नहीं है, आधी पिक्चर तो नहीं बनाओगे! बजट नहीं है, पिक्चर तो पूरी बनाओगे, फिर मुझे क्यों नहीं दोगे आप? पिक्चर बैकग्राउण्ड में दिखती है, उसकी अहमियत है। उसके लिए मुझे क्यों नहीं पैसा दोगे? वो जो अहमियत की बात है वो सारी कलाओं में है।

कलाओं का बहुत बड़ा काम है। अगर कला एक्सप्रेशन है, तो आप इस शिक्षा को जोड़ते क्यों नहीं हो? ऐसी कौन-सी शिक्षा है कि बड़ी पुस्तकें सिर पर रखकर भागता रहूँ! काहे के लिए भाई? सब कुछ गूगल पर है। गूगल दादा ने सब कुछ आपको दे दिया है। उसके बियोण्ड वही शिक्षा है। वो ही असली बात है। उसके

परे कौन सिखायेगा? लाल रंग के बगल में पीला रंग लगेगा यह गूगल नहीं बोलता। वो मन बोलता है। वो चित्त बोलता है। आप कभी लाल रंग लगाइये, उसके बगल में हरा रंग लगाइये। मैं दावा करता हूँ कि हरा रंग या लाल रंग लगाते समय बहुत तकलीफ़ होगी आपको। हरा खेत है, लाल रंग की फ्लोरेसेंट साड़ी पहने जाती हुई एक औरत...। कैसे पेंट होता है, यही है प्रकृति। ये कौन सिखायेगा? कोई नहीं। इसलिए देखने को कहता हूँ। पर देखते नहीं हैं, सुनते नहीं हैं, समझते नहीं हैं। अपने घर में सब हैं। यहाँ थियेटर की बात करना चाहूँगा। हम ख़ुद ही किरदार हैं। हम दो सौ किरदार अपने घरों में करते हैं। हम कहते हैं भाई का किरदार करो, पगला जाता है वो आदमी। कैसे करूँ सर? अबे घर में भाई है न तू, फिर क्या है, कहानी है बस। इसीलिए देखना, सुनना, पढ़ना और समझना। बहुत फ़र्क़ हो गया है, ख़ासतौर से फेसबुक, व्हॉट्सअप और इंस्टाग्राम। मैं तो किसी पर नहीं हूँ, उन्होंने एक अज़ीब-सी सेंसेबिलिटी बच्चों में पैदा कर दी है। वो सुनना नहीं चाहते हैं।

आजकल सारा युवा सिनेमा की तरफ़ जाता है। आप बुरा क्यों मानते हैं। जाने दीजिये। आप उसको लगाम लगाइये। आप उसको सिखाइये कि किस तरफ़ जाना है। राज कुंद्रा वाले सिनेमा में जाना है या सुभाष घई वाले में जाना है?

●●●

**कामायनी में लय के साथ-साथ तुक का भी निर्वाह किया है। मेरी प्राथमिकता भी लय की रही है कि लय कभी आहत न हो। कहीं ऐसा न हो कि तुक की खोज में मैं उसकी लय को, अर्थ की लय को, काव्य की लय को बाधित करूँ। अर्थ की लय, काव्य की लय मेरी प्राथमिकता रही है।**

# ‘कामायनी’ का अनुवाद चुनौती था

रतन चौहान

**विक्रांत भट्ट:** जयशंकर प्रसाद ने ‘कामायनी’ की पहली टीका कब लिखी? इसका प्रकाशन किस तरह हुआ?

**रतन चौहान:** महाकवि जयशंकर प्रसाद की मूल चिंता रही कि सबसे पहले ‘कामायनी’ का प्रणयन पूर्ण हो जाए। इसका कारण यह था कि वे अस्थमा जैसे असाध्य रोग से पीड़ित थे और प्रतिदिन मृत्यु की दिशा में अग्रसर हो रहे थे। उन्होंने अपने चिकित्सक से कहा था कि कम से कम इतना जीवन आप अवश्य दें कि मैं अपनी आंखों के सामने कामायनी का प्रकाशन देख सकूँ। टीका उनके लिए महत्वपूर्ण नहीं थी। प्रसाद कामायनी के रचयिता थे, वे टीकाकार नहीं थे। कामायनी अपने आप में ही संपूर्ण जीवन का, जीवन के विभिन्न अंगों का महत्वपूर्ण टीका है। वह काव्यमयी टीका है। वह महाकाव्य के धरातल पर प्रारूपित जीवन की विसंगतियों पर, विद्रूपताओं पर जीवन के सार्थक मूल्यों पर और जीवन की नई दृष्टि पर प्रत्येक का टीका है।

**‘कामायनी’ के कितने सर्ग हैं और ये सर्ग किस विषय पर केन्द्रित हैं?**

– जैसा मैंने आपको बताया कि महाकवि ने कामायनी को महाकाव्य स्तर के ऊपर प्रारूपित किया है। महाकाव्य की परंपरा में इसमें विभिन्न सर्ग हैं। इसमें कुल मिलाकर 15 सर्ग हैं। चिंता सर्ग प्रथम सर्ग है और कामायनी की इति आनंद सर्ग से होती है। चिंता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, ईर्ष्या, कर्म, स्वप्न, संघर्ष, रहस्य, दर्शन, आनंद इस तरह सर्गों की रचना हुई है।

**‘कामायनी’ की मूल आत्मा क्या है?**

– कामायनी की मूल आत्मा ही मनुष्यता की चिंता है। मनुष्यता, मानवीय मूल्यों का जो पराभव होता है, प्रत्येक कवि की चिंता यह होती है कि पराभव और विघटन की स्थितियों में वह उस दर्शन को लेकर आए जो मनुष्य को निराशा के गर्त से निकालकर जीवन की ओर उन्मुख करे, और न केवल उन्मुख करे, जीवन के उन्नयन की ओर उन्मुख करे। उन्नयन से कदापि यह तात्पर्य नहीं है कि केवल वह भौतिक प्रगति करे। कामायनी की पृष्ठभूमि में हम

सबको विदित है कि जल प्लावन है। देव संस्कृति अपने वैभव के लिए अपनी विलासिता के लिए प्रख्यात थी, किन्तु इसी वैभव ने विलासिता ने मूल्यों के पराभव ने स्त्री की अवमानना ने, क्योंकि उन्होंने स्त्री को केवल विलासिता की वस्तु समझा, उनकी मृत्यु को, उनके पराभव को आमंत्रित किया। हम कह सकते हैं कि जो अधिभौतिक शक्तियाँ थीं उन अधिभौतिक शक्तियों ने देवों को दंडित करने के लिए देव संस्कृति को निर्मूल कर दिया था। देव संस्कृति के एक ही प्रतिनिधि बचे थे वे मनुष्यता के प्रथम पिता बने मनु, कामायनी भी थी। कामायनी का शाब्दिक अर्थ होता है काम का आवास। कामायनी का जो चित्रांकन हुआ है वो विलासिता की देवी के रूप में नहीं हुआ है वह अपार सौंदर्यशालीनी है पर साथ में उसमें ममत्व है करुणा है। कामायनी ही जिसे श्रद्धा भी कहा गया है। कामायनी ही मनु को करुणा, प्रेम, के मार्ग पर प्रशस्त करती है। कामायनी के दो रूप हैं। कामायनी और श्रद्धा। हम उस तरह से ले सकते हैं इसको कि मनु को मन का प्रतीक कहा गया है पर श्रद्धा है मन और बुद्धि। इसमें एक द्वंद्व चलता है। ज्ञान का, कर्म का, इच्छा का। कवि ये रेखांकित करना चाहता है कि आधुनिक भौतिक संसार में ये तीनों इच्छा अलग हैं। मनुष्य का कर्म अलग है। ज्ञान की दिशा अलग है। इनमें समन्वय का अभाव है। जब तक ये समन्वय स्थापित नहीं होगा तब तक कि पुरुष तत्व और नारी की करुणा में सामंजस्य नहीं होगा। केवल पुरुष तत्व प्रधान रहेगा तो समाज में हिंसक घटनाएं होंगी।

**तो क्या प्रसाद जी ने उस दौर में स्त्री विमर्श की बात की थी?**

– न केवल कामायनी के माध्यम से कही थी। हम सभी जानते हैं कि महाकवि जयशंकर प्रसाद केवल कवि ही नहीं बल्कि प्रख्यात नाटककार भी थे। उन्होंने 'ध्रूवस्वामिनी' जैसी रचना लिखी और 'ध्रूवस्वामिनी' में उन्होंने स्त्री की अस्मिता का प्रश्न उठाया है। वह रामगुप्त का इसलिए बहिष्कार करती है कि रामगुप्त क्लीव था। वह उसका परित्याग कर देती है। हम यदि महाकवि प्रसाद के विकास को देखते हैं, नाट्यशिल्पी के विकास को देखते हैं। कवि के विकास को देखते हैं, तो हमें सदैव नव जागरण की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना चाहिए। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना चाहिए।

**पूर्व में 'कामायनी' का कितनी भाषाओं में अनुवाद हुआ है?**

– कामायनी का अंग्रेज़ी भाषा में रूपांतर हुआ है और भारत की अन्य भाषाओं में भी हुआ है। पर मुख्य रूप से अंग्रेजी भाषा में ही इसका मुख्य रूप से रूपांतर हुआ है। उसका कारण संभवत: यह था कि कामायनी हिन्दी के छायावाद का शिखर है। वह अप्रतिम रचना है। जब हम छायावाद की बात करते हैं तो हम प्रसाद की बात करते हैं, हम निराला की बात करते हैं, महादेवी की बात करते हैं जो छायावादी काव्य के शिखर थे। छायावाद को ऐसे परिभाषित किया गया है कि स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह। सरल-सा अर्थ ये है कि जो छायावादी पूर्व के रचनाकार थे मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध और पूर्व में भारतेन्दु हरिश्चंद्र इन सबने और मुख्य रूप से मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध जैसे रचनाकारों ने काव्य रचना या काव्य भाषा का निर्माण तो किया, पर उसका जो अप्रतिम सौंदर्य था उसका जो भाव सौंदर्य था उसका जो अर्थ सौंदर्य था उस अर्थ सौंदर्य को उद्घाटित करने का श्रेय यदि किसी को जाता है तो वह प्रसाद को जाता है। वह निराला को जाता है। वह महादेवी को जाता है। तो छायावाद अपने आप में अर्थ के गांभीर्य को लेकर भाव के सौंदर्य को लेकर कल्पना के वैभव को लेकर निरंतर अग्रसर हो रहा है। ऐसी दिशा में सामान्य पाठक के लिए यहाँ तक कि स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के लिए कामायनी का अध्ययन निश्चित रूप से प्रश्न खड़े करता है। और इन्हीं प्रश्नों का समाधान करने के लिए डॉ. रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, शंभूनाथ, चंचल चौहान जैसे रचनाकारों ने कामायनी को लेकर विभिन्न व्याख्याएँ लिखी हैं। तो जब तक की कोई भाष्यकार नहीं होता है कामायनी के अर्थ सौंदर्य तक पहुँचना संभव नहीं होता है। इसलिए कम ही लेखकों ने रूपांतर की चुनौती को स्वीकार किया है।

**'कामायनी' के अंग्रेज़ी अनुवाद की ज़रूरत क्यों महसूस हुई?**

– निश्चित रूप से मैं अंग्रेजी साहित्य का छात्र रहा हूँ पर साथ में मैं हिन्दी भाषा का भी छात्र रहा हूँ और हिन्दी साहित्य का अध्येता हूँ। हिन्दी के सृजनात्मक कर्म से संबद्ध हूँ। अंग्रेज़ी के सृजनात्मक कर्म से संबद्ध हूँ। मुझे इसलिए 'कामायनी' के रूपांतर की प्रेरणा प्राप्त हुई या इस तरह प्रेरित हुआ कि इसका अनुमप सौंदर्य, भाषिक सौंदर्य, भाव सौंदर्य, कल्पना का वैभव मन को आंदोलित करता है और साहित्य के छात्र के लिए भाषा का कोई बंधन नहीं होता है जहां भी उसे साहित्य के अनंत स्त्रोत प्राप्त होते हैं या निर्झर जहाँ फूटते हैं वह अपनी तृषा को तृप्त करने के लिए चला जाता है, पर इसके रूपांतर के पीछे मेरा एक उद्देश्य यह भी है कि कामायनी

का अध्ययन, पुनः अध्ययन उसके सौंदर्य में स्वयं को स्नात करना, मन का अवगाहन, समृद्ध होना और साथ में भारतीय संस्कृति और मनुष्यता के मूल्यों से संबद्ध होना, तो उसके पीछे भाव यह था कि जब यह अंग्रेजी में रूपांतरित होगी तो जो अंग्रेज़ी भाषी होंगे, हिन्दी भाषी भी जो अंग्रेज़ी भाषी हैं और जैसा निवेदन किया है कि हिन्दी भाषियों के लिए भी सुखकर रचना है और अंग्रेज़ी भाषा के प्रति वे जिज्ञासु हैं तो वे अंग्रेजी भाषा के आस्वाद के लिए अंग्रेज़ी भाषा में पढ़ेंगे, और अंग्रेज़ी से पुनः कामायनी की ओर लौटेंगे।

**'कामायनी' में भावनाओं का घटाटोप है। आपको अनुवाद की किन चुनौतियों का सामना करना पड़ा?**

– निश्चित रूप से मैंने 'कामायनी' के रूपांतर की सर्वप्रथम कोशिश लगभग 50 वर्षों पूर्व की थी। मैं एम.ए. उत्तरार्ध का छात्र था और जब अपने अध्यापकीय जीवन में प्रवेश कर रहा था तब मैंने कामायनी के रूपांतर का प्रयास किया। मैं छायावादी काव्य सौंदर्य से प्रभावित था। अंग्रेजी भाषा का छात्र था और अंग्रेजी के स्वच्छंदतावाद से भी मेरा गहरा संबंध था तो इनसे प्रेरित होकर मैंने आज से लगभग 50 वर्षों पूर्व कामायनी का रूपांतर प्रारंभ किया। और मैंने उसको पूर्ण भी कर लिया। किन्तु वह केवल एक युवा का उत्साह था। तब मेरे पास वो दृष्टि नहीं थी। उसके अर्थ सौंदर्य और उसकी विराट कल्पना को मैं समझ सकूँ मुझमें इतना विवेक नहीं था। वर्षों बाद मैंने डॉ. रामविलास शर्मा, शंभूनाथ, चंचल चौहान को पढ़ा। इन लेखकों को पढ़ने के बाद मैंने कामायनी का पुनः अनुवाद करने का मन बनाया। इसको प्रत्येक दिशा से समझने के लिए डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना का भाष्य पढ़ा। मैं कामायनी को पढ़ता, कामायनी का छंद पढ़ता, उसके बाद डॉ. सक्सेना का भाष्य पढ़ता, प्रत्येक अर्थ को समझता, शब्द को समझता, अर्थ के स्तर को समझता अर्थ के प्रतीकों को समझता, जो मिथकीय सौंदर्य है उसको समझता, प्रतीकों को समझता और इन सबके बाद में मैं कोशिश करता कि मैं मूल रचना के साथ न्याय कर सकूँ। इसके लिए मैं प्रयास करता। यहाँ निवेदन करना चाहता हूँ कि मैंने अपने रूपांतर में यह प्रयास किया है क्योंकि मैं अंग्रेज़ी का छात्र हूँ और हिन्दी भाषा का भी छात्र हूँ, मैंने यह कोशिश की है। क्योंकि यह भारत की रचना है। भारतीय संस्कृति को उद्घाटित करती है। इसमें वैदिक कालीन पृष्ठभूमि है। मनु है, कामायनी है, ईडा है, असुर है जो पुरोहित के रूप में आते हैं और भारतीय संस्कृति के मूल्य हैं। तो मैंने यह कोशिश की है कि कहीं भी रूपांतर में यूनानी, पुरानी कथाओं या शेक्सपीयर, मिल्टन, या अंग्रेजी काव्य के छायावादी कवियों की छाप न दिखाई दे। मैं अपने धरातल पर भाषा में रूपांतर तो नहीं कर सकता था। जब अंग्रेज़ी भाषा की बात करेंगे तो शेक्सपीयर हैं और आगे जाएंगे तो कहीं न कहीं उस पर यूनानी साहित्य का प्रभाव है पर कोशिश मेरी यह रही है कि हमको भारत का सदैव स्मरण रहे, उसकी संस्कृति का सदैव स्मरण रहे। अंग्रेजी का पाठक भी कभी यह अनुभव नहीं करें कि यह जो शब्द आया है रूपांतर का या किट्स ने इसे अपनी कविता में उपयोग किया है या शेक्सपीयर ने अपने इस नाटक में उपयोग किया है या ग्रीक माइथोलॉजी की बात की गई है। मैंने कोशिश की है, मैं कितना सफल हुआ ये अलग बात है।

**'कामायनी' छंद है, लय है, तुक है, रिद्म है। अंग्रेज़ी अनुवाद में यह सब चुनौती रहा होगा।**

– निश्चित रूप से प्रसाद ने कामायनी में लय के साथ-साथ तुक का भी निर्वाह किया है। मेरी प्राथमिकता भी लय की प्राथमिकता रही है कि लय कभी आहत न हो। कहीं ऐसा न हो कि तुक के अन्वेषण में तुक की खोज में मैं उसकी लय को, अर्थ की लय को, काव्य की लय को बाधित करूँ। मेरी कोशिश रही कि जैसा कि कामायनी में तुक का निर्वाह किया गया है लगभग 99 प्रतिशत छंदों में मैंने तुक का निर्वाह किया है पर मैंने निवेदन किया है तुक मेरी प्राथमिकता नहीं रही है। अर्थ की लय, काव्य की लय मेरी प्राथमिकता रही।

**क्या आपको अनुवाद के दौरान शब्दकोश का सहारा भी लेना पड़ा?**

– एक नहीं मेरे पास जितने महत्वपूर्ण उपलब्धत शब्दकोश थे, प्रत्येक पद में, प्रत्येक शब्द के धरातल पर मैंने उनका सहयोग लिया। बिना शब्दकोश के मैं आगे नहीं बढ़ सकता था। मैंने हिन्दी के शब्दों को नालंदा हिन्दी कोश और अंग्रेज़ी के लिए हार्न बी, आक्सफोर्ड डिक्शनरी, फादर कामिल बुल्की की डिक्शनरी को देखता रहा। मैं पाठक जी के हिन्दी और अंग्रेज़ी शब्दकोश को देखता रहा, क्योंकि शब्द की तलाश होती है। रचना के धरातल पर भी एक असंभव-सी तलाश होती है। सार्थक शब्द का मिलना ही कविता का या रचना का सार्थक होना है। रूपांतर तभी सार्थक होगा जब मूल भाषा के समकक्ष आपका शब्द होगा। और वह उतना ही अर्थ प्रधान हो, सौंदर्य प्रधान हो, जितना कि मूलभाषा का शब्द है। क्योंकि हिन्दी की प्रवृत्ति अलग है और अंग्रेज़ी की प्रवृत्ति अलग है। तो यह आवश्यक नहीं कि जो हिन्दी का शब्द है अंग्रेजी में वह उस सौंदर्य

के साथ उपलब्ध हो। उदाहरण के रूप में ऋतुपति के घर उत्सव था...। प्रसाद लिखते हैं तो अब ऋतुपति के लिए वसंत के लिए अंग्रेज़ी में शब्द स्प्रिंग है, ब्लूम है। आर्नल्ड अपनी एक कविता में कहते हैं द ब्लूम इज गोन....। वसंत चला, वसंत के साथ मैं भी चला, कोकिल कह रहा है, तो वसंत के लिए ब्लूम है, स्प्रिंग है। इज विंटर कम इज स्प्रिंग बिहाइंड लिखते हैं अपनी रचना में। पर कहीं भी ऋतुपति नहीं है। तो आपको उसी धरातल पर रहने के लिए यदि आपके रूपांतर में लॉर्ड ऑफ द सीजन्स आता है। तो हम उसका उपयोग करेंगे। क्योंकि वह उद्घाटित करेगा, तो ये एक अपने आप में बड़ा सुखद अनुभव था।

**अनुवाद को साहित्य की पुनर्रचना कहा जाता है आपको क्या लगता है कि आप 'कामायनी' के अनुवाद में यह कर पाए?**

– पुनर्रचना का जब प्रश्न उठता है तो एक रूपांतर के रूप में मेरी स्वयं से यह अपेक्षा रही है कि मैं कभी भी मूल रचना के कथ्य, उसके भाव सौंदर्य से, अर्थ सौंदर्य से, विलग ना हो जाऊँ जिसको हम अंग्रेज़ी में अथेंटिसिटी कहते हैं। मेरा सदैव इस बात के लिए आग्रह रहा, वह रहा है अथेंटिसिटी। हम कहीं पुनर्रचना में मूल से ही विलग न हो जाएं। नहीं तो लगेगा कि यह कामायनी नहीं है। निश्चित रूप से अनुवाद उसके भाषिक कलेवर में रूपांतर होना है, क्योंकि वह हिन्दी भाषा में है, और अंग्रेज़ी भाषा में हो तो वह रूपांतर तो है। रूपांतरकार भी एक सृजनात्मक लेखक होता है।

**'कामायनी' के अनुवाद में आपको कितना समय लगा?**

– जैसा मैंने आपसे निवेदन किया है कि लगभग 50 वर्ष पूर्व इसके अनुवाद को शुरू किया था, पर जब 50 वर्ष पश्चात मैंने उस पर दृष्टिपात किया तो वह केवल एक उत्साह था, पर उसने मुझे एक सहायता की कि वह कम से कम एक पगडंडी थी। यदि वह पगडंडी नहीं होती तो शायद मैं कामायनी महाकाव्य के राजमार्ग पर प्रवृत्त न होता। मैंने 50 वर्ष पश्चात् अर्थात् अभी सन् 2014–15 में कामायनी के रूपांतर की योजना निर्मित की और इसमें मुझे 18 मास का समय लगा और ये आप सबकी शुभकामनाओं से पूर्ण हो गई।

**'कामायनी' का यह अंग्रेज़ी अनुवाद कहाँ से प्रकाशित हो रहा है?**

– 'कामायनी' का प्रकाशन जैसा मैं चाहता हूँ– द्विभाषी हो। वह हिन्दी में भी हो और अंग्रेजी में भी हो। जिसको हम बाईलिंगुअल कहते हैं। उसके पीछे उद्देश्य ये रहा कि उसका पाठक वर्ग बढ़े। केवल वह अंग्रेजी में प्रकाशित होती, तो हम सब जानते हैं कि हमारे यहां अंग्रेजी भाषी, पाठकों की संख्या सीमित है। औपन्यासिक कृतियों की अधिक हो सकती है, कथा साहित्य का प्रश्न है और जहाँ तक कामायनी जैसे महाकाव्य का प्रश्न है वह अत्यल्प है। इस दृष्टि से मैंने उसका अंग्रेजी में रूपांतर किया है और वह शीघ्र ही प्रकाशित होकर आपके समक्ष होगी।

**आपको क्या लगता है कि इसकी लोगों तक पहुँच का स्वागत होगा?**

– आपका प्रश्न रोचक है पर मैंने यह निवेदन किया है कि यह केवल अंग्रेज़ी में नहीं है उसके साथ तो मूल कामायनी चल रही है। मेरी प्राथमिकता तो है कि मूल रचना का पाठक अधिकाधिक आस्वाद ले। मेरी चिंता यह नहीं है कि उसका अंग्रेज़ी में स्वागत हो। मेरी मूल चिंता ये है कि महाकाव्य के पाठक आस्वाद लें। ये आवश्यक नहीं कि जब मूल पुस्तक या अनुवाद उनके हाथ में जाए वे बाध्य नहीं कि वे रूपांतर पढ़ने के लिए बाध्य हों पर वो अंग्रेजी देखेंगे और कामायनी के कुछ जिज्ञासु पाठक होंगे वे जिज्ञासावश देखेंगे कि देखें रूपांतर कैसा हुआ है। तो वे रूपांतर को पढ़ेंगे फिर मूल को लौटेंगे।

**'कामायनी' के बाद आपकी क्या योजना है?**

– हाँ, निश्चित रूप से जैसा आप मित्र जानते हैं। मैंने हिन्दी के लगभग सभी महत्वपूर्ण कवियों के रूपांतर किए हैं। नागार्जुन से लेकर राजेश जोशी तक के अनुवाद मैंने किए हैं। मैंने जयशंकर प्रसाद से उनकी रचना बीति विभावरी जाग री से लेकर जो समकालीन कवि हैं हमारे यहां के मित्र आशीष दशोत्तर तक की रचना का भी समावेश हो तो ये मेरी योजना है और इसके साथ ही दूसरी योजना ये है कि विश्व के अन्य देशों के रचनाकारों का हिन्दी अनुवाद पाठक मित्रों तक पहुँचे उस दिशा में भी मैं कार्य कर रहा हूँ। मेरा एक संग्रह अनुवाद का पूर्व में प्रकाशित हो चुका है काव्याकाश के नाम से है। इसमें पश्चिम के रचनाकार थे। अमरिकी रचनाकार थे। अफ्रीकी रचनाकार थे।

● ● ●

**कारंत जी में सहजता और स्पष्टता थी। उनका निर्देशन और सुझाव हमारे लिए बहुत क़ीमती होते थे। मेरे मन में कारंत जी की छवि एक सक्षम कलाकार और एक बहुत अच्छे इन्सान की छवि थी। जिसको मैंने और दूसरे कलाकारों ने उनके साथ जिया भी। मेरे रंग व्यक्तित्व के परिष्कार में बाबा का बहुत योगदान रहा।**

# ज़िंदगी और रंगमंच के बीच एक पतली रेखा

विभा मिश्रा

**कमल कुमारः** स्त्री की दी गई भूमिका और रंगमंच दो ध्रुव हैं, क्या यह सही है?

**विभा मिश्राः** ज़िंदगी हो या स्टेज, स्वतंत्रचेता स्त्रियों के लिए इनमें जगह ही नहीं है। रंगमंच के साथ मैं पिछले 26 वर्ष से जुड़ी रही हूँ इसलिए अपने अनुभव के आधार पर कहती हूँ कि ज़िन्दगी में जो औरतों के साथ होता है वही थियेटर में भी होता है। रंगमंच में भी उसे काफ़ी हद तक वैसे ही निभाना होता है जैसे जीवन में, यानी दबकर, घुटकर अपनी आवाज़ को अपने भीतर दबाकर। एक सीमा तक तो औरत को बर्दाश्त कर लिया जाता है लेकिन जैसे ही वह अपना निर्णय लेने या देने लगती है समस्या खड़ी हो जाती है। समाज ऐसी औरतों को अच्छा नहीं समझता। रंगमंच में भी वही होता है। निर्देशक के इशारों पर नाचो तो ठीक है। ज़रा-सा इधर से उधर किसी स्त्री ने किया तो बर्दाश्त नहीं होता। 'रुकिए... तीन फुट आगे... साढ़े तीन फुट नहीं' यही आदेश होता है। जीवन में जैसे पुरुष का वर्चस्व है वैसे ही रंगमंच की दुनिया में भी है। सिर्फ़ निर्देशक ही नहीं, साथी कलाकार भी कई बार आपकी सफलता को बर्दाश्त नहीं करते। प्रतिद्वन्द्विता तो ठीक है परन्तु उच्छृंखल और उद्दण्ड व्यवहार भी होता है। लेकिन मैं इन सारी स्थितियों से परेशान तो होती हूँ परन्तु ये मेरे रास्ते में बाधा नहीं बनतीं। मैं अगले दिन पहले से भी बेहतर करने का प्रण लेती हूँ और करके भी दिखाती हूँ। कई बार अपने बचाव के तरीक़े भी सोच लेती हूँ। नाटक का एक दृश्य था जिसमें एक सह कलाकार ने मुझ पर एक लैम्प फेंक कर मारना था। रिहर्सल में मैंने अपने को बचाया था बच गई पर यह निश्चित था कि वह अगले दिन की रिहर्सल में फिर से वही दुहरा सकता है। मुझे चोट लग सकती है। मैं सुबह रिहर्सल से पहले मंच पर पहुँची, प्रेक्टिस की और अनुमान लगाया कि जब वह लैम्प फेंक कर मारेगा तो कौन-सी पोजीशन ठीक रहेगी कि चोट न लगे। हुआ भी वही, उसने सोच रखा था, लैम्प मारेगा ही। चोट लगेगी ही। वह सॉरी बोल देगा। आख़िर ऐसे हादसे बिना इरादे के भी हो सकते हैं। दृश्य हुआ और मैंने भी उस दृश्य को बदल दिया और मैं बच गई।

यह ह्यूमन नेचर (मनुष्य की प्रकृति) है। नाराज़गी भी होती है। कुछ लोग बदला भी लेते

हैं। कलाकार ख़ुद इन समस्याओं से उलझते और सुलझते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि स्टेज पर स्त्रियों को समझौता करना पड़ता है वैसे ही जैसे जीवन में वह समझौता करती हैं। साहित्य में भी इस परम्परा का ही निबाह है। शकुन्तला हो या मालविका हो या फिर आधुनिक काल में लिखे आधे-अधूरे की सावित्री हो। औरतें कहाँ अपने पक्ष में निर्णय ले पाती हैं? ज़िन्दगी रंगमंच है और रंगमंच ज़िन्दगी है- दोनों के बीच में एक पतली-सी रेखा है बस। ग्रीक क्लासिक एंटीगनी में सोफ़क्लीज़ कहता है दुश्मन की लाश सड़े, यही उसके लिए ज़िन्दगी की ख़ुशबू है। पर एंटीगनी इसके विरोध में खड़ी होती है और निर्णय लेती है कि लाश को दफ़न किया जाएगा। वह कहती है, मैं अपने भाई को दफ़नाकर आई हूँ।

एक और नाटक है कोकेरियन चॉक सर्कल, जिसका हिन्दी अनुवाद हुआ इंसाफ का घेरा और खड़िया का घेरा। इसमें नौकरानी ग्रूशा महत्वपूर्ण स्त्री पात्र है। हिन्दी अनुवाद में वह रैया है। दूसरे महायुद्ध में जब युद्ध की विभीषिका में सब भाग रहे हैं। कोकेरियन का राडार नष्ट हो गया है। रानी का नवजात शिशु छूट जाता है। दुश्मन उसे ढूँढ रहे हैं और उसका क़त्ल करना चाहते हैं। नौकरानी रैया उसे पालती है। उसे पालने के उस भावात्मक फ़ैसले के लिए उसे क्या कुछ भुगतना पड़ा। आर्थिक स्तर, सामाजिक स्तर पर से चारों तरफ़ से उसे बाधाएँ घेर लेती हैं। इन दोनों पात्रों की भूमिका को रंगमंच पर मैंने निभाया। कहने का अर्थ यह है कि औरतें जीवन में जब अपने निर्णय लेती हैं तो उनको निभाने में कैसी-कैसी बाधाओं का सामना करना पड़ता है।

**साहित्य में स्त्री रचनाकारों ने अपने समय की और समय से आगे औरतों का चित्रण किया है पर रंगमंच पर ऐसा नहीं हो पाया। क्यों?**

- आप सही कह रही हैं। सिर्फ़ भारत ही नहीं, एशियाई साहित्य में स्त्रियों ने बड़ा मुखर साहित्य रचा है। पाकिस्तान की तहमीना दौरानी, बंगाल की तस्लीमा नसरीन, हिन्दी में मंजुल भगत की गुल दोपहरिया कहानी मुझे याद आ रही है। दूसरी कहानीकारों ने भी यथार्थ स्त्री पात्रों की रचना की। परन्तु ऐसी कहानियों और पात्रों को स्टेज पर लाना मुश्किल हो जाता है। समाज के दर्शकों के लिए देखना मुश्किल हो जाता है। स्टेज पर, साहित्य में या जीवन में स्त्री, समाज के संभ्रातजनों के चेहरों से मुखौटे उतारे ये किसी को बर्दाश्त नहीं होता।

**पर ऐसा क्यों? नयी सोच के लोग क्यों आगे नहीं आते? थिएटर में और साहित्य में जो एक रिश्ता बनना चाहिए था क्या वह बन सका?**

- भारतेन्दु और प्रसाद जैसे नाटककार थे जिन्होंने नाटक लिखे और रंगमंच से जुड़े भी। अब ऐसे नाटककार कम ही हैं। पाश्चात्य रंगमंच में और साहित्य में सामाजिक परिवर्तनों के साथ परिवर्तन आया है। हमारे यहाँ भी परिवर्तन हो रहा है पर धीमी गति से। कारण यह भी है कि रंगमंच में एक व्यक्ति नहीं, समूह होता है। साहित्य जबकि व्यक्ति-केन्द्रित रचना होती है। ग्रूप में समझौता करना पड़ता है। निर्देशक चाहता है चार नए पात्र लें, अभिनेता आपत्ति करते हैं। फिर दर्शकों की प्रतिक्रिया का भी ध्यान रखा जाता है। तो भी प्रयोग तो हुए हैं। संतोष चौबे की तीन कहानियों- राग केदार, उनके हिस्से का प्रेम, बीच प्रेम में गांधी को एक साथ जोड़कर सुबह दोपहर शाम में मैंने दिखाया। इसमें मैंने खजुराहो की पेंटिंग्स का इस्तेमाल किया। लेकिन मेरी कैसी आलोचना हुई। मुझ पर अश्लीलता का आरोप लगाया गया। इसी को रामगोपाल बजाज कर्नाटक में, बेंगलूर, मैसूर ले गए और चंडीगढ़ लेकर गए। वहाँ उनका प्रदर्शन हुआ। इन पर बहुत अच्छी प्रतिक्रिया भी दर्शकों से मिली। लेकिन आनंदगुप्त ने इसे पोर्नोग्राफी कहा। परन्तु मैं भयभीत नहीं हुई। मैंने भी कहा, 'यह आप पर है आप इसे कैसे लेते हैं।' कहा गया, अब रंगमंच भी बोल्ड हो गया है। जेएनयू के छात्र दर्शक आते हैं इसलिए भी इस पर आपत्ति हुई। जैन मन्दिरों में जैनेश्वरी स्वयंसिद्धा, राजुला, रानी चेलना और मैना सुन्दरी की कहानियों का मैंने मंचन किया। ये तीन चरित्र ही बाद में जैन धर्म की महत्वपूर्ण देवियाँ बनती हैं। रंगमंच पर मेरे ये प्रयोग चुनौती भरे रहे हैं। एक बार और भी है, रंगमंच के क्षेत्र में भी जिन औरतों को उनके पति और बच्चों का सहयोग है उनकी स्थिति दूसरी औरतों से अच्छी हो जाती है। मैंने रंगमंच पर नारीवाद की बात नहीं की है, स्त्री की अस्मिता की बात की है। उसका भी व्यावहारिक पक्ष लिया है। समाज की तरह रंगमंच पर भी परिवार के बीच ही औरत की स्वीकृति है। पति चाहे कुत्ता ही क्यों न हो।

**विभा, तुम्हारी जैसी स्त्री ही तो चुनौती को स्वीकारती है।**

- मैंने चुनौतियों को स्वीकारा है। बाधाओं के बीच से ही रास्ता बनाया है। मैं बड़े ही रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार से हूँ। हमारे घर में ज़मींदारी है और यहाँ औरतों का जीवन तहमीना दौरानी की औरतों से शायद ही

कुछ बेहतर हो। मैं रंगमंच से 26 साल पहले जुड़ी थी। उस समय में मैंने परिवार की सारी रूढ़ियों को तोड़ा था तभी रंगमंच में आई थी। मेरे साथ 1986 में एक दुर्घटना हुई, उससे भी उबर कर आई हूँ। उस समय मीडिया ने जो कुछ किया वह बहुत ही त्रासद था। मीडिया के कारण मुझे बहुत सहना पड़ा पर मेरी पीड़ा मेरी शक्ति बनी। मैंने भी निर्णय किया कि जीवन के सच से भागूँगी नहीं और मैंने भोपाल से ही जीरो के साथ अपनी यात्रा शुरू की। कारंत जी बहुत ही अच्छे, आत्मीय पर प्रोफ़ेशनल इन्सान थे। उनसे मैंने रंगमंच का बहुत कुछ सीखा। यदि यूँ कहा जाए जो सीखा उन्हीं से सीखा तो भी यह बड़ी बात नहीं। रंगमंच में कविता को, संगीत को, साहित्य की रचनात्मकता को कैसे समन्वित किया जाता है, यह कारंत जी ने ही सिखाया था। आधुनिक रंगमंच में उनका बहुत महत्वपूर्ण योगदान है। भारत भवन की अपनी एक राजनीति है। आपसे क्या कहूँ। लेकिन देखिए 1984 में मेरा अफेयर भी चल रहा था, साथ ही रंगमंच में कई नई चीज़ों के बीच थी। कारंत जी मेरे गुरु थे उनके साथ मैं अपने सारे कच्चे अनुभव बाँटती थी। उनसे सुझाव लिया करती थी। मेरे लिए वे फादर फिगर थे। मेरे पिता नहीं हैं, उनमें मैं कहीं इस क्षति की पूर्ति भी करती थी। उस दुर्घटना के साथ कितना कुछ नष्ट हुआ। मेरा अफेयर भी टूट गया। पर रंगमंच में डटी रही। दूसरे निर्देशकों के साथ भी मेरे समीकरण अच्छे थे। सन् 1992 में फेस्टीवल ऑफ फ्रांस इन इंडिया भोपाल में हुआ। जार्ज लावादो ने यहाँ की रैपटरी को चुना। उस समय हमारा रंगमंडल और उसकी गतिविधियाँ अपने उत्कर्ष पर थीं। 17वीं शताब्दी का नाटक 'फैद्रा' खेला गया था जिसमें थीयूसिस जो एक शक्तिशाली निरंकुश राजा था। राज्यों को जीतता और वहाँ की लड़कियों को ले जाता। युद्ध में फैद्रा के पति राजा के मारे जाने की सूचना मिलती है। फैद्रा का विवाह उसके सौतेले लड़के से कर दिया जाता है। बाद में पता चलता है राजा जीवित है और रानी ज़हर खा लेती है। इस नाटक का हिन्दी अनुवाद कृष्ण बलदेव वैद ने किया था। 17वीं शताब्दी के इस लीजैंडरी नाटक में 'फैद्रा' की भूमिका मैंने निभाई थी। शायद उसी के आधार पर मुझे फ्रांस में एक वर्ष की फैलोशिप मिली थी जहाँ मैं ख़ूब घूमी हूँ। यूरोप के देशों में गई हूँ। उनके रंगमंच को जानने-समझने की कोशिश भी की है।

**व्यक्तिगत स्तर पर भी आपने संघर्ष किया है।**

– थियेटर में जैसे नये प्रयोग किये जाते हैं जो चुनौती होते हैं, वैसे ही औरत का संघर्ष वहीं से शुरू हो जाता है जहाँ वह घर से क़दम बाहर रखती है। फिर थियेटर तो पूरे समय और शक्ति की माँग करता है। औरत घर से बाहर लम्बे समय तक, जिस-तिस के साथ काम करे ये परिवार में कहाँ पसन्द किया जा सकता है। औरत एक बार घर से बाहर पैर निकालती है तो वापस लौटना कितना मुश्किल होता है- 'डार से बिछुड़ी' पढ़ लीजिए। यदि औरत निर्देशक हो तो उसका संघर्ष और भी बढ़ जाता है। मैंने निर्देशन भी किया है। भावात्मक संघर्ष के साथ प्रोफेशनल संघर्ष भी किया है। परन्तु मेरे भीतर एक ज़िद्दी भाव है जो मुझे जीवन्तता देता है। मुझे इनोवेटिव बनाता है। इसलिए मेरा संघर्ष रुकता नहीं है। आप अभी विभा जोशी से मिली थीं, इंडियन क्लासिकल ड्रामा और अस्थैटिक्स पढ़ाती थीं, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली में। पर वे कहीं भी एडजस्ट नहीं कर सकीं। उन्होंने पति से तलाक लिया, अकेले रहने का फ़ैसला लिया लेकिन आज उनके मन में इस बात का गहरा प्रायश्चित है। इसका एक कारण और भी है जो बहुत महत्वपूर्ण है वह है- थियेटर के बल पर कोई सर्वाइव नहीं कर सकता। आप देखिए प्राइवेट रेपर्टरी में अभिनेता को तीन हज़ार रुपये दिए जाते हैं। इसलिए रंगमंच को प्रशिक्षण क्षेत्र की तरह इस्तेमाल करके कलाकार टीवी सीरियल की ओर भागता है। रंगमंच के हमारे वरिष्ठ कलाकार भी इसके लिए ज़िम्मेदार हैं। उन्होंने रैपर्टरियों को तोड़ा है। बनाया नहीं है। इसीलिए अभिनेता ख़त्म हो रहे हैं। पर कुछ लोग हैं जिनका योगदान महत्वपूर्ण रहा है। नसीरुद्दीन शाह, अनुपम खेर, राज बब्बर, आशुतोष राणा, मनोज वाजपेयी इत्यादि। अब स्थिति यह है कि रैपर्टरियाँ ख़त्म होंगी और अभिनेता भी ख़त्म ही होंगे। मनोहर सिंह बम्बई चले गए और उनके जाने के साथ कितने अभिनेता ख़त्म हुए। उनका जाना अकेले अभिनेता का जाना नहीं था। फिर नए अभिनेता कहाँ आ रहे हैं। वे जाना चाहते हैं, टीवी सीरियल में और फ़िल्मों में। मध्यप्रदेश रंगमंडल, बन्द हुआ, रैपर्टरी बन्द हुई, वे ही अभिनेता सरवाइव कर सके जिनकी पत्नियाँ या पति कहीं कुछ काम करके घर चला सकते थे। अर्थात् जिनका कोई दूसरा आर्थिक आधार था। मैं अभिनेत्री ही बने रहना चाहती थी परन्तु मुझे लगा निर्देशक बनना ज़रूरी है। निर्देशक के रूप में फिर भी कलाकार की कुछ आवाज़ होती है। उसकी आवाज़ सुनी जाती है। उन्हें बाहर टूर पर जाने का अवसर भी मिलता है। अब सर्वाइवल के लिए स्क्रिप्ट लिखना, नौकरी करना या निर्देशन करना ज़रूरी है। चुनाव बहुत मुश्किल होता है। ग़रीबी झेलने के सिवा कुछ कलाकार तो दूसरा कुछ कर भी नहीं पाते। मुझे सचमुच थियेटर से प्यार है। थियेटर का विंग एरिया स्टेज पर आने से पहले का समय कितना महत्वपूर्ण होता है आपको बताती हूँ। मैंने बरसों 'तीसरी क़सम' फ़िल्म नहीं देखी। क्योंकि मैं उसमें अपने को पर्सोनीफाई

करती थी। मन में इच्छा थी कि यह फ़िल्म बासुदा के साथ देखूँगी और मैंने देखी भी। देखिए आप, जीवन में प्यार नहीं मिलता, पर थियेटर में प्यार का वास्तविक अभिनय करना होता है। इससे बड़ा भावात्मक द्वन्द्व क्या होगा? संघर्ष क्या होगा?

**विभा क्या तुम अपने को आधुनिक औरत मानती हो?**

– नहीं, सच मैं बड़ी ही परम्परावादी व्यक्ति हूँ। पर तो भी मैं रंगमंच पर आई और सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ा। अपने भीतर के अनुशासन से और एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्थितियों को देखती हूँ मैं। औरत के लिए दिए गए 'डू और डू नॉट' हमारे भीतर का संस्कार, बन जाते हैं। नैतिकता के संस्कार तो रिश्तों में भी ज़रूरी होते हैं। और मैं इस नैतिकता को निभाती भी हूँ। लेकिन आपसे सच कहूँ, मैंने अपने आस-पास इतना पाखण्ड देखा कि क्या कहूँ। जितना बड़ा अभिनेता या कलाकार उतना ही पाखण्डभरा उसका जीवन। मुझे इससे बड़ी चिढ़ होती है। मन खिन्न हो जाता है। मैं झूठ में, पाखण्ड में विश्वास नहीं करती। लेकिन यह भी कहती हूँ कि किसी की जान बचाने के लिए झूठ भी बोला है। यह भी थियेटर से सीखा। 'मदर करेज' नाटक में माँ अपने बेटों को नहीं पहचानती क्योंकि वह जानती है कि वह अपने बेटे को पहचानेगी तो उसकी हत्या कर दी जाएगी। कारंत जी के साथ, उस दुर्घटना के बाद मैंने कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे बचाया था। उस समय भी लोग मेरा सम्मान करते थे और पचास चिट्ठियाँ रोज आती थीं। कारंत जी ने मीडिया वालों से कहा था अपने इंटरव्यू में 'हाँ, मैं विभा को चाहता हूँ' यह हादसे के बाद की बात है। कारंत जी एक पूर्ण व्यक्ति थे। निर्भय अपने कलाकारों से जुड़े थे। कभी बाहर जाते तो किसी के लिए साड़ी लाते, किसी के लिए लिपिस्टिक तो किसी के लिए कोई दूसरा उपहार। हम सब सदभाव से अपनी भावनाएँ शेयर किया करते थे। साथ ही उतने ही प्रोफेशनल स्तर पर उनसे जुड़े हुए थे। कारंत जी में सहजता और स्पष्टता थी। उनका निर्देशन और सुझाव हमारे लिए बहुत क़ीमती होते थे। कारंत जी की पत्नी प्रेमा नाट्य विद्यालय के साथ थीं। उत्तरा, सुरेखा के बैच की ही थीं। मेरे मन में कारंत जी की छवि एक सक्षम कलाकार और एक बहुत अच्छे इन्सान की छवि थी। जिसको मैंने और दूसरे कलाकारों ने उनके साथ जिया भी। परन्तु मीडिया ने जो किया वह दु:खद है। क्या कहूँ मीडिया एक तरह की वेश्यावृत्ति है जो अपने हित में लोगों का, घटनाओं का, हादसों का और स्थितियों का उपयोग करते हैं। इस सच को जब मैंने जाना तो मैंने मीडिया का उपयोग करना सीखा। हुआ यह कि मेरा छींकना भी उनके लिए ख़बर बन जाता है।

**थिएटर के लोगों ने आपका साथ नहीं दिया था?**

– थिएटर वाले और भी बेचारे हैं। इतने सक्षम नहीं कि दूसरों को संरक्षण दे सकें। मीडिया, अभिव्यक्ति की बात करता है पर छापता सब नेगेटिव ही है क्योंकि वह बिकाऊ होता है। पर तो भी थियेटर में कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनमें साहस होता है। भीतर ईमानदारी होती है। इब्राहिम अलकाज़ी आते थे यहाँ। उन्होंने अशोक वाजपेयी को एक चिट्ठी लिखी थी जिसमें मेरे बारे में भी लिखा था। मैंने एक प्ले किया था 'हाउस ऑफ़ बनार्डा एलवा'। इसका हिन्दी अनुवाद रघुवीर सहाय ने किया था। इस नाटक में बीस-बाईस लड़कियाँ चाहिए थीं। उस समय हवा थी कि लड़कियाँ थिएटर में नहीं जाएँगी। पर आईं। मैंने नाटक किया। यहाँ लोगों की मानसिकता क़स्बे की मानसिकता है।

**विभा जी, इतने वर्षों तक थिएटर से जुड़ी रहीं आप। आपने निर्देशन, अभिनय इत्यादि सभी स्तरों पर काम भी किया। आप अपनी उपलब्धि क्या मानती हैं?**

– देखिए, मैं थिएटर के साथ हूँ, सारी बाधाओं के बाद भी। गर्व के साथ कहती हूँ, आई लव थिएटर। आज यहाँ मेरा सम्मान है। यूँ तो हर किसी कलाकार को यह लगता ही है कि उसका श्रेय उसे नहीं मिला। पर मेरी सोच अलग है, मैं मानती हूँ जीवन में जो भी मिले उसे स्वीकारो। मुझे घातक बीमारियाँ मिलीं हिपोटाइटस-सी से यातना सही पर वहीं मुझे अच्छा डॉक्टर भी मिला जिसने मेरा ध्यान रखा। मुझे भोपाल में तो मेरे बचने की भी उम्मीद नहीं थी। मैं दिल्ली गई थी। डॉक्टर सरीन ने चेताया था पर कहा था कि अगर आप मेरे साथ सहयोग देंगी, अनुशासन में रहोगी तो ज़रूर ठीक हो जाएँगी। और मैं ठीक हुई भी। अनुशासन और सहयोग देना मैंने थियेटर से ही सीखा था। जीवन भी तो रंगमंच ही है न। समय और ज़िन्दगी को जीने का ढंग सब का अपना होता है और मेरा भी अपना ढंग है। वहाँ अस्पताल में जब बिस्तर पर पड़े नहीं रहना चाहती थी तो जाकर नर्सों के साथ काम किया करती थी। बाहर निकलकर अस्पताल में घूम-घूमकर देखा करती थी, लोगों की सफरिंग को। लगता था मैं अकेली तो नहीं हूँ। डॉक्टर मना करते थे पर मैं सारे टेस्ट

करवाने के लिए ख़ुद चलकर जाया करती थी। जीवन कुरुक्षेत्र है। इसमें भागने पर भी मर सकते हैं इसलिए लड़ना ही है। मरना भी है तो लड़कर ही मरना है। दोनों तरह के लोग हैं जो मुझे गालियाँ देते हैं और दूसरे जो अपने स्नेह से और प्रार्थना से मुझे ठीक होने की शुभकामनाएँ देते थे।

**आज की कलाकार पीढ़ी के लिए और रंगमंच के लिए क्या कहना चाहेंगी?**

– जैसा आपसे कहा था, आज की पीढ़ी रंगमंच का चुनाव करना चाहती है। रंगमंच को वह ऊपर जाने के लिए (फ़िल्मों में या टीवी पर) सीढ़ी की तरह इस्तेमाल करती है। वे दो–चार नाटकों में काम करती हैं और टीवी सीरियल या फ़िल्मों में चली जाती हैं। कारण यह भी है, थियेटर आर्थिक सुरक्षा भी तो नहीं देता।

**आप थिएटर के भविष्य को लेकर चिन्तित हैं?**

– तो भी थिएटर रहेगा ही। इसका रूप बदल जाए पर इसका अस्तित्व रहेगा। टीवी पर जो इतने सारे इंडियन क्लासिकल संगीत के चैनल शुरू हुए वह थिएटर की ही वजह से हुए। कारण टीवी का पेट बहुत बड़ा है उसे तो भरा ही जाना है। रंगमंच भी अपना स्थान टीवी पर बनाता ही है। जबकि उसकी जीवंतता लाइव परफार्मेंस में रंगमंच पर ही होती है।

● ● ●

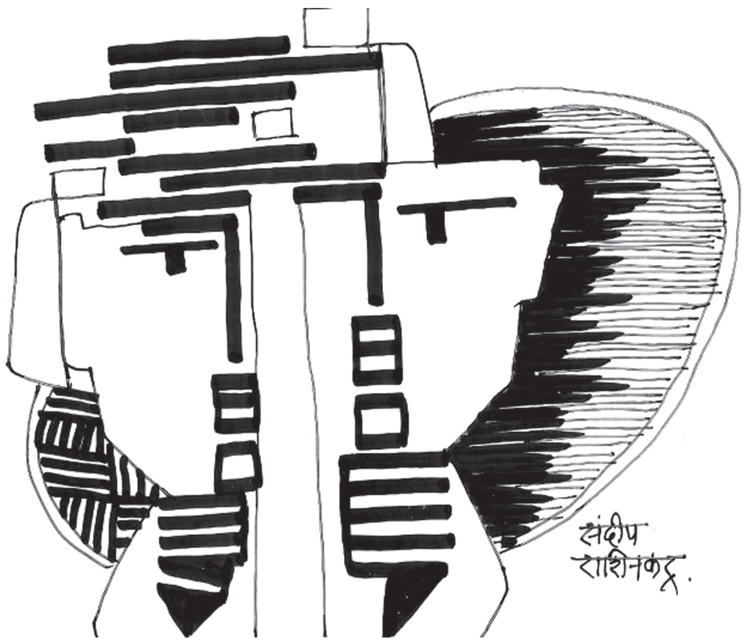

**मैं मानता हूँ कि लेखक-कलाकार को थोड़ा सोशल एक्टिविस्ट भी होना चाहिए और ये सोशल एक्टिविज़्म जो है, हमें लोगों से जुड़ने के लिए प्रेरित करता है। 'विश्वरंग' की परिकल्पना के बुनियादी विचारों में यह एक महत्वपूर्ण आयाम है।**

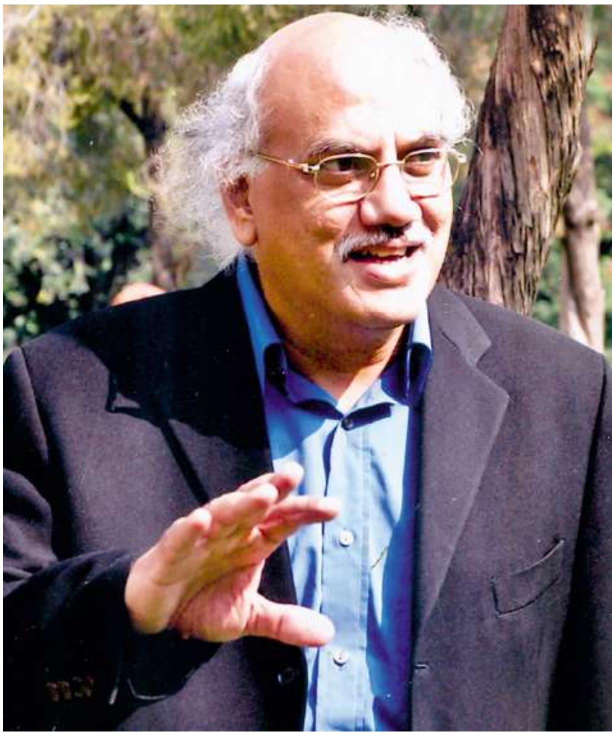

संतोष चौबे

# यह सांस्कृतिक हस्तक्षेप का समय है

**विनय उपाध्याय:** आप कवि, कथाकार, उपन्यासकार और संस्थाओं के सूत्रधार-समन्वयक भी रहे हैं, फिर व्यवसाय से एक तकनीकी संस्थान के संचालक भी। विभिन्न छोरों पर आपकी सक्रियता कैसे संभव हो पाती है?

**संतोष चौबे:** मेरे विकास की चार धाराएँ स्पष्ट रूप से परिभाषित की जा सकती हैं। एक है साहित्य की धारा जिसका मैंने ऊपर ज़िक्र किया है और जो नैसर्गिक रूप से मेरे भीतर प्रवाहित होती रही। इसी में आप मेरे नाटक और संगीत से लगाव को भी शामिल कर सकते हैं। दूसरी धारा मेरे अध्ययन के अनुशासन और सामाजिक रुझान से निकलती है। जिसमें इलेक्ट्रॉनिक्स और कम्प्यूटर शिक्षा के मेरे काम (आईसेक्ट के काम) तथा सूचना तकनीक को लोगों तक पहुँचाने को शामिल किया जा सकता है। तीसरी धारा विज्ञान और साक्षरता आंदोलन की रही है जो विज्ञान आंदोलन के प्रति मेरे प्रारंभिक झुकाव से निकली और चौथी तकनीकी लेखन से संबंधित है जो कि कहीं न कहीं पहली और दूसरी धाराओं से जाकर जुड़ती है। इन चारों ही धाराओं को मैंने सूखने नहीं दिया और ये इसलिए जीवित रहीं क्योंकि मैं इन्हें ठीक-ठीक देख पाता था और परिभाषित कर पाता था। मित्रों और सहयोगियों से प्रोत्साहन भी बहुत मिला। टिका इसलिए रह सका कि तार्किक आधारों पर ही निर्णय लेता रहा और जो जँचा नहीं उसे छोड़ दिया। आजकल एक नया आधार ढूँढा है। जहाँ धनात्मक ऊर्जा दिखती है, वहीं जाता हूँ। ज़्यादा निगेटिविज़्म आपको समाप्त करता है। अतः पॉजीटिव एक्शन में रहता हूँ और सक्रिय रहता हूँ।

**साहित्य और कलाओं के अंतर्संबंधों को लेकर आपकी क्या रचनात्मक दृष्टि है? किस तरह का काम करने की ज़रूरत है?**

– मुझे लगता है कि साहित्य और कलाओं में प्रगति का रास्ता उनमें अंतर्संबंधों की तलाश से होकर ही जाता है। जैसे भाषा अगर बोलियों से अंतर्क्रिया नहीं करेगी तो उसके मरने या रुक जाने की आशंका है। गद्य अगर कविता से अंतर्क्रिया करता है तो ज़्यादा इंटेंस हो सकता है।

कविता अगर संगीत से अंतर्क्रिया करती है तो उसके नए अर्थ खुल सकते हैं। मैंने धीरे-धीरे इन बातों को समझा है। कविता यात्रा नई कविता और संगीत के अंतर्क्रिया से उपजी है। विष्णु खरे, केदारनाथ सिंह, अशोक वाजपेयी जैसे श्रोताओं ने इस प्रयोग को सराहा है। मेरी कहानियों का नाट्य मंचन हुआ है। उनमें से एक तो राष्ट्रीय नाट्य महोत्सव में मंचित हुई थी और उसने सुधी दर्शकों तथा मीडिया का ध्यान खींचा। इसी तरह हमने हिंदी कविता के पाठ के साथ-साथ बोलियों के प्रसिद्ध कवियों को भी बुलाया जो श्रोताओं के दिल को छू जाने वाला रहा है। मुझे लगता है कि इस काम को और आगे बढ़ाया जाना चाहिए। पूरे विश्व में आजकल इस तरह की धारा चली है और गद्य, कविता, संगीत तथा चित्रकला के भीतर संबंधों को खोजा जा रहा है, बनाया जा रहा है।

**आप स्वयं अपने लेखन से कितने संतुष्ट हैं?**

– मैंने अभी बहुत नहीं लिखा है। इसलिए संतुष्ट होने का तो सवाल ही नहीं। मुझे लगता है कि मैं अभी भी सीख रहा हूँ। शुरुआत ज़रूर कविता से हुई थी और अब मैं कहानी और उपन्यास पर आकर टिक गया हूँ। मुझे लगता है कि कहानी और उपन्यास के बारे में मेरी एक समझ बनी है।

**आपने बहुत से सांस्कृतिक संगठन बनाए, फिर बाद में वे शिथिल पड़ गए। कैसा अनुभव रहा?**

– पहली बात तो जो सांस्कृतिक संगठन मैंने बनाए या यूँ कहा जाए कि मित्रों और सहयोगियों के साथ मिलाकर बनाए, वे अभी भी सक्रिय हैं। असल में ये बात एक यूनिवर्सल सत्य है कि जब राजनैतिक आंदोलन मज़बूत होते हैं तो सांस्कृतिक आंदोलन भी ज़्यादा मज़बूत और ज़्यादा सक्रिय होते हैं। स्वतंत्रता की पूरी लड़ाई में एक बड़ा योगदान सांस्कृतिक और नवजागरण के आंदोलन का भी रहा है। फिर इमर्जेंसी के बाद प्रतिरोध में सांस्कृतिक संगठनों में शिथिलता दिखती है तो उसका एक कारण यह है कि इस समय कोई बड़ी राजनैतिक कार्यवाही नहीं हो रही। एक बाज़ारवादी, उपभोक्तावादी, उत्तर आधुनिक, कुहासा भी है। जिसे छँटने में थोड़ा समय लगेगा।

**कविता और कहानी में आज किस तरह के प्रयोगों की ज़रूरत है?**

– ये आपने एक बड़ा और कठिन सवाल पूछ लिया क्योंकि हर लेखक की अपनी-अपनी कविता और अपनी-अपनी कहानी हो सकती है। जो अपने आप में एक समृद्ध रचना भी हो सकती है। असल में भारतीय समाज और विकासशील देशों के समाज कई स्तरों पर जीवित हैं और कविता तथा कहानी जिस स्तर पर लिखी जा रही है, उसे उस स्तर पर कंसिस्टेंट होना चाहिए (अपने कथ्य, गति और दृश्य विधान में)। कहानी के संदर्भ में तीन-चार तरह के प्रयोगों का ज़िक्र करना चाहूँगा। एक गतिशील और चमकदार कहानी जो महानगरीय संदर्भों में लिखी जा रही है, दूसरी भाषा के साथ अत्यधिक संलग्नता के साथ लिखी जा रही कहानी है जिसे अलग अर्थों में प्रयोगशील कहा जा सकता है और तीसरे कुछ रचनाकार फंतासी का प्रयोग भी कर रहे हैं। एक सहजता, क़िस्सागोई और खिलंदड़ेपन की परम्परा भी, इन सबको समझने के लिए आलोचना की जनतांत्रिकता आवश्यक है।

**आज की कविता कोई निराला, कोई मुक्तिबोध क्यों नहीं गढ़ पा रही है?**

– जैसा कि मैंने कहा- ये समय महानायकों का समय नहीं है। इस समय प्रतिरोध छोटी-छोटी चीज़ों और छोटे-छोटे विवरणों में किया जा रहा है। और वहाँ कविता चमकदार है।

**आज के भौतिकवादी ज़माने में तकनीकी का बोलबाला है, साहित्य संस्कृति की संवेदनाएं या उनके रचनात्मक हस्तक्षेप के क्या मायने रह गये हैं?**

– साहित्य और संस्कृति, तकनीक के विरोध में नहीं खड़े होते। वे उसके अनुपूरक होते हैं। तकनीक आपके जीवन को सरल बना सकती है। मेडिकल साइंस आपकी आयु बढ़ा सकता है, कम्प्यूटर आपका समय बचा सकता है लेकिन इस बढ़े हुए जीवन और बचे हुए समय का आप करेंगे क्या? मेरा ख़्याल है जीवन के हर सवाल का जवाब साहित्य और संस्कृति ही हमें दे सकते हैं। नए क़िस्म के ज्ञानात्मक मानचित्र और संज्ञान हमें तकनीकी और साहित्य दोनों के ही माध्यम से प्राप्त होंगे।

**आपकी कहानियों के मंचन होते रहे हैं। माध्यम के इस बदलाव से कहानी का आस्वाद भी क्या ख़ारिज हो जाता है, या वह नए प्रभावों के साथ समाज तक और अधिक व्यापक तथा गहराई से संबोधित होती है?**

– कहानी का मंचन एक ख़तरनाक काम है। इसकी दो पद्धतियाँ प्रचलन में है। एक तो कहानी को वैसे का वैसा मंच पर रख देने की पद्धति जिसे देवेन्द्र राज अंकुर ने अपनाया है और दूसरा कहानी में निर्देशकीय छूट लेने की पद्धति जिसे कई युवा निर्देशक अपना रहे हैं। बात यह है कि कहानी और नाटक दो अलग-अलग विधाएँ है। हालांकि कहानी में एक ड्रेमेटिक एलीमेंट होता है और नाटक में भी एक या कई कहानियाँ होती हैं। कहानी को डिकंस्ट्रक्ट करने पर वह शुद्ध कहानी तो नहीं रह पाती लेकिन अगर नाटक के रूप में प्रस्तुत करने पर उसका अर्थ विस्तार हो सके और वह ज़्यादा लोकप्रिय हो सके तो ऐसा करने में कोई हर्ज़ नहीं है। मतलब उपरोक्त दोनों पद्धतियों में काम किया जा सकता है और वह प्रभावी भी हो सकता है अगर निर्देशक पर्याप्त संवेदनशील हो तथा मंचन करते समय उसका लेखक से संवाद होता रहा हो। संयोग से ऐसा कई प्रस्तुतियों में होता रहा है।

मैं अपनी कहानियों को इस तरह कम्युनिकेट होता देखता रहा हूँ। प्रख्यात रंगकर्मी देवेन्द्र राज अंकुर ने मेरी कहानियों 'ग़रीब नवाज़' और 'नौ बिन्दुओं का खेल' के साथ बहुत ही रोचक प्रयोग किए है।

**कविता यात्रा के आप सूत्रधार रहे हैं। इस दृश्य-श्रव्य रूपक का क्या प्रयोजन रहा।**

– जब कविता यात्रा का विचार हमारे मन में आया तो उसका मूल आधार यह था कि नई कविता के भीतर भी एक लय और छंद उपस्थित है और उसे संगीत के माध्यम से बाहर लाया जा सकता है। ऐसा करते समय कविता ज़्यादा संप्रेषणीय, ज़्यादा अर्थवान और ज़्यादा लोकप्रिय हो सकती है। हमारे प्रयोग ने एक हद तक इस बात को सिद्ध किया है। हालांकि संगीत के डॉमीनेशन का ख़तरा बना रहता है।

**साहित्य संगठनों की भूमिका को अक्सर राजनीति से प्रेरित माना जाता है। क्या ये संगठन अपनी सच्ची सामाजिक भूमिका का निर्वाह कर पा रहे है?**

– अगर हम राजनीति को समाज की प्रमुख संचालक शक्ति मान लें तो प्रत्येक संगठन उससे एक हद तक प्रभावित और परिचालित होगा। सांस्कृतिक-साहित्यिक संगठनों को आगे चलने वाली मशाल की भूमिका निभानी चाहिए थी।

ऐसा वे समाज का सही चित्रण करते हुए, अपनी रचनात्मक सक्रियता बनाए रखते हुए और अपने नैतिक आधारों को दृढ़ रखते हुए कर सकते थे। इसके अतिरिक्त किसी भी साहित्यकार या रचनाकार की दो मूल आवश्यकताएँ होती हैं। पहली लोग उसकी कला या रचना को जानें और उसे मान्यता प्रदान करें तथा दूसरी आपस में सीखने-समझने का वातावरण बने। इसके बाद रचनाकार की सामाजिक भूमिका तय हो सकती है। और यहाँ पर राजनैतिक पक्षधरता तय करनी होती है। दिक्कत यह है कि संगठनों में राजनैतिक काम पर ज़्यादा और रचनात्मक काम पर कम ध्यान दिया जा रहा है। इससे न तो नये लोग आकर्षित हो पा रहे हैं और न ही भूमिकाओं का सही-सही निर्धारण हो पा रहा है।

**भारत के पास एक बड़ा सांस्कृतिक मूलाधार है, पिछली सदियाँ उनसे ही जीवन के सवालों को सुलझाती रही हैं। आधुनिक समाज इस आधार से ऊपर उठकर विज्ञान और तकनीकी की शरण में है। आपकी क्या राय है?**

– पूरे विश्व में विकास के अलग-अलग चरण रहे हैं और विज्ञान और तकनीकी के विकास की गति पिछली शताब्दी में तथा पिछले कुछ दशकों में अविश्वसनीय रूप से बढ़ी है। लेकिन जैसा कि मैंने पहले कहा, सिर्फ़ विज्ञान और तकनीकी से ही मनुष्य की सब समस्याओं का हल नहीं निकाला जा सकता। उसे अपने सांस्कृतिक मूलाधारों पर टिके रहना पड़ेगा। अब सवाल ये उठता है कि हमारे मूलाधार क्या हैं और उन्हें कहीं विकृत तो नहीं किया जा रहा। एक उदाहरण देकर अपनी बात समाप्त करूँगा। भारतीय शास्त्रीय संगीत में राग या रागों का कोई निषेध नहीं कर सकता। रागों पर पेंटिंग बनाई गई है, उन्हें मौसमों और समय से जोड़ा गया है और हर राग की भाव-भूमि भी है। अब राग का जो स्ट्रक्चर है उसमें आलाप, जोड़, गत और झाला उपस्थित रहते हैं। ये जो झाला है, ये सूफी परम्परा से राग में जोड़ा गया। उसके पहले हमारे यहाँ ध्रुपद था जो अभी भी गाया जाता है। तो राग जो हुई एक मूल आधार का प्रतीक हुई और संस्कृतियों के संगम से निकली चीज़ हुई। ऐसे ही हमारा स्थापत्य जहाँ लाइन और कर्व मिलते हैं, हमारे कपड़े हैं, हमारा खानपान है। आप या तो मूल धाराओं को बाँटकर देख सकते हैं या उनकी अंत: सम्बद्धता को पहचानकर मूलाधारों को सही पहचान दे सकते हैं। यदि आप ऐसा करेंगे तो आपको जीवन की कई समस्याएँ भी सुलझती नज़र आएँगी। विज्ञान और तकनीकी के साथ साहित्य और संस्कृति की सही समझ ही मनुष्यता को बचा सकती है।

**इधर आपके निर्देशन-संयोजन में आयोजित 'विश्वरंग' समारोह की ख्याति दुनियाभर में फैली। आपके मन में 'विश्वरंग' कब और कैसे कौंधा?**

– विनय, ऐसा है कि 'विश्व रंग' को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। एक तो हम इसको अपने देश के बाहर से देख सकते हैं और एक देश के भीतर से देख सकते हैं। मुझे लगता है कि हम वैश्विक परिदृश्य को देखें तो दो-तीन बातें बहुत साफ़ हैं। हमारी जो दी हुई धरती थी या हमें जो प्रकृति प्राप्त हुई थी, जिसके साथ हमें जीना था या जिसके साथ हम अपना जीवन-यापन करते थे। इस प्रकृति के अंधाधुंध दोहन से जिस तरह का समाज अब बन रहा है, जिस तरह का विश्व अब बन रहा है, मुझे लगता है कि उसके प्रति संवेदनशील होने की बहुत ज़रूरत है और वो कलाओं और कला-माध्यमों के द्वारा ही किया जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि विज्ञान जिस तरह का मनुष्य बनाने की बात करता है, बायोटेक्नॉलॉजी और बायोइंफॉर्मेटिक्स का जो कन्वर्जन्स है, इसमें मनुष्य को विस्थापित करने की ही बातें हो रही हैं। माने रोबोटिक्स की बात हो रही है, बायोटेक्नॉलॉजिकल मनुष्य की बात हो रही है। तो क्या हम मनुष्य के बिना या मनुष्य की संवेदनाओं के बिना किसी धरती के बारे में सोच सकते हैं? मुझे लगता है कि साहित्यकारों और कलाओं का अब बहुत ज़रूरी काम है कि वो इस संवेदना को पुनः जागृत करें, देखें कि विज्ञान जिस तरह का समाज बनाना चाहता है, जिस तरह से प्रकृति का अंधाधुंध दोहन हमने किया है, उससे हम किस तरह की धरती का निर्माण कर रहे हैं।

और तीसरी बात, जो बहुत ज़रूरी है कि अब टेक्नॉलॉजी बहुत आड़े आती है। यानी इस तरह का एक कुहासा टेक्नॉलॉजी ने हमारे दिमाग़ में खड़ा कर दिया है, इस तरह का एक विभ्रम रच दिया है जिसमें बहुत तीव्र गति से चलने वाली दृश्यावलियाँ हैं, जिसमें हमारे दिमाग में एक तरह का फ्रिगमेंटेशन पैदा हुआ है। इस सबको पुनः केन्द्रित करते हुए मनुष्य मात्र पर और मनुष्य की संवेदनाओं पर केन्द्रित करते हुए काम किये जाने की आवश्यकता लगती है। मुझे लगता है कि ये काम सिर्फ़ कलाएँ ही कर सकती हैं और ये समय जो है, ये कलाओं के हस्तक्षेप का समय है।

**उत्सवधर्मी भारत में पहले भी कई सांस्कृतिक गतिविधियाँ होती रही हैं लेकिन 'विश्वरंग' किन अर्थों में अनूठा रचने की कोशिश रही?**

– हाँ... ये जो हमारी मूल अवधारणा है उससे जुड़ा हुआ सवाल है। असल में लिटरेचर फेस्टीवल्स या 'विश्व रंग' जैसे साहित्य समारोहों को आयोजित करने के दो तरीके हो सकते हैं। एक यह है कि आप उसे व्यावसायिक हितों में रचें, दूसरा यह है कि उसमें अंग्रेज़ियत और एक इलिटिज़्म डोमिनेट करें।

हमारे यहाँ जो परिकल्पना है या जो हमारे रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय की परिकल्पना है वो यह है कि भारत, भारतीयता और भारतीय भाषाएँ इसके केन्द्र में होनी चाहिए। हम हिन्दी में और हिन्दी भाषा में बातचीत करने वाले, रचने वाले समाज हैं। हम भारतीय भाषाओं में रचने वाले समाज हैं। हमारी विषद् परम्परा अपनी कलाओं की रही है। ये जो पूरे देश में परिदृश्य बना है, जिसमें कि ऐसा लगता है कि उन समारोहों में प्रवेश में दिक़्क़त होती है और जिस तरह की बातें की जाती हैं, तो हमारी कोशिश यह है कि हम हिन्दी और भारतीय भाषाओं को पुनः केन्द्र में लाएँ और जो हमारी परम्परा है और जो हमारी कला और संस्कृति है उसके साथ जोड़कर इस चीज़ की बात करें।

**एक विश्वविद्यालय को क्या ज़रूरत पड़ी कि वो साहित्य और कलाओं का उत्सव रचे? किस नवाचार का आग्रह है?**

– मुझे ऐसा लगता है कि ये भी एक तरह का शैक्षिक नवाचार है। क्योंकि ब्रेख़्त ने यह कहा था कि शिक्षा सबसे अच्छी वो है या कला सबसे अच्छी वो है जो शिक्षित करती है। तो शिक्षा को भी कलाओं के पास जाने की ज़रूरत है और मुझे लगता है कि ये हम ज़रूरी काम कर रहे हैं। ये नवाचार ही है। दूसरी बात यह है कि हमारे विश्वविद्यालयों में और अपने टेक्नॉलॉजी नेटवर्क में हर समय यह बात स्वीकार की जाती है कि मनुष्य को विज्ञान की भी उतनी ही ज़रूरत है और कलाओं की भी उतनी ही ज़रूरत है। अगर हमें सन्तुलित मनुष्य बनाना है, अगर हमें एक विचारशील, संवेदनशील मनुष्य बनाना है तो वह विज्ञान की तकनीकों को हासिल करेगा लेकिन कलाओं की तकनीकों को भी हासिल करेगा और कलात्मक रूप से सोचने के लिए वह समृद्ध होगा। तो ये सन्तुलन हर तरह बना रहता है।

**टैगोर भारत की अभिनव संस्कृति का एक प्रस्थान बिन्दु हैं। ऐसे में वे किन अर्थों में विन्यस्त हुए?**

– यह बहुत बढ़िया सवाल है। ऐसा है कि जिस साहित्य समारोह की हमने अब तक बात की, उसके पूर्वरंग के रूप में टैगोर का एक पुनरावलोकन भी आयोजित किया। तीन दिनों तक टैगोर पर केन्द्रित समारोह और बहुत ही आवश्यक था कि हम टैगोर को फिर फोकस में लाते। उसमें एक दिन भोपाल शहर के बच्चे टैगोर की कविताओं की बड़ी प्रस्तुति जो दृश्य–श्रव्य प्रस्तुति रही। टैगोर की पेंटिंग्स पर एक सेपरेट सेशन और उनकी पेंटिंग एक्ज़ीबिशन भी। टैगोर की कविताओं पर तो काफ़ी बात होती है और नाटक पर भी बात होती है पर उनकी पेंटिंग्स पर उतनी चर्चा हमारे देश में नहीं हुई है। विश्वरंग में टैगोर की पेंटिंग्स की एक एक्ज़ीबिशन भी हुई। इसी कन्टेक्स्ट में 'हिस्ट्री ऑफ़ आर्ट इन इण्डिया' एक सेमिनार टैगोर वि.वि. में हुआ। तीसरे दिन उनका एक नाटक, जो बहुत प्रमुख नाटक है, 'चाण्डालिका' कलकत्ता से आने वाली हमारी उषा गांगुली जी ने प्रस्तुत किया। टैगोर के नाटक, टैगोर की पेंटिंग्स, टैगोर की कविता, टैगोर का विचार, टैगोर का रंग–संगीत, रवीन्द्र संगीत– ये सभी इसमें शामिल रहा। अभी हाल ही में हमने जयश्री चक्रवर्ती को बुलाया था, वह भी टैगोर के रवीन्द्र संगीत पर अपना बहुत अच्छा प्रदर्शन करके गई हैं। कोशिश है कि टैगोर से शुरू करके वैश्विक दृष्टि प्राप्त की जाए।

**'विश्वरंग' का हासिल?**

– हाँ... ये थोड़ा कठिन सवाल है, लेकिन निश्चित रूप से इसे पूछा जाना चाहिए। मुझे ऐसा लगता है– जैसा मैंने शुरू में भी कहा– ये हमारे पैंतीस–चालीस वर्षों के काम का निष्कर्ष है, कि छात्रों को और आगे चलकर मनुष्य को भी एक सन्तुलित मनुष्य के रूप में व्यवहार करना चाहिए। इसका एक तो इनहेरण्ट आइडियालॉजिकल पर्सपेक्टिव यह है कि विज्ञान और कलाएँ साथ–साथ चलें और 'विश्व रंग' के ज़रिए कोशिश की कि विज्ञान और कलाओं को साथ–साथ लाएँ।

दूसरी बात, हमारे देश में हम कहते तो बहुत हैं, मतलब जब हमारे साहित्यकार मित्र, यह कहते हैं कि कई चीज़ें ग़लत हो रही हैं। लेकिन कोशिश होनी चाहिए कि यदि आप उस पर विश्वास करते हैं तो प्रत्युत्तर भी पैदा करें, आप एक काउण्टर–प्वाइण्ट भी पैदा करें, जिसमें बताएँ कि चीज़ों को अगर होना है तो इस तरह से होना है। अगर हम कहते हैं कि व्यावहारिक हितों के आधार पर साहित्य को नहीं देखा जाना चाहिए, अगर हम कहते हैं कि हमारे लोकल कनेक्ट और हमारे समाज के कनेक्टेड फेस्टिवल होने चाहिए। सारे फेस्टिवल बड़े शहरों पर न रहकर पूरे व्यापक समाज से जुड़कर होने चाहिए, ऐसा एक टाउण्टल एक्शन भी हमें करना चाहिए। मैं मानता हूँ कि लेखक–कलाकार को थोड़ा सोशल एक्टिविस्ट भी होना चाहिए और ये सोशल एक्टिविज़्म जो है, हमें लोगों से जुड़ने के लिए प्रेरित करता है।

**विश्वरंग के पूर्व पुस्तक यात्रा भारत की सांस्कृतिक धड़कनों से वाबस्ता होने का एक बड़ा अभियान रही। इस प्रतिक्रिया में आप कुछ जोड़ना चाहेंगे?**

– ये फेस्टिवल सचमुच इस तरह से डिफरेन्ट रहा है कि इसमें पहले एक 'पुस्तक–यात्रा' निकाली गयी जो कि देश के पचास–पचपन स्थानों पर गयी। ये छोटे कस्बे थे। ये बिहार के छोटे कस्बे थे, ये झारखण्ड के छोटे कस्बे थे। ये मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ की वो जगहें थीं जहाँ पर कि सामान्य रूप से बड़े साहित्यकार नहीं जाते हैं। पहला प्रयास तो वहाँ जाकर शामिल करने का किया गया। दूसरा प्रयास यह है कि इसमें भाषाओं पर बहुत ज़ोर है और हम अपनी भाषा और अपनी संस्कृति पर बहुत ज़्यादा ज़ोर दे रहे हैं। तीसरी बात यह है कि हम किसी तरह से इसका व्यावसायीकरण नहीं कर रहे हैं, जिसमें कि कोई कॉर्पोरेट बड़े तौर पर शामिल हो या कि सरकार इसको ड्राइव करने की कोशिश करे। ये पूरी तरह से शैक्षणिक संस्थानों द्वारा संचालित देश का पहला प्रयास है। जहाँ तक एक ओर तो इसका वैश्विक दृष्टिकोण है और दूसरा इसका एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण भी है जिसमें हमारी कोशिश है कि हम अन्य फेस्टिवल से अपनी कार्य पद्धति से, अपनी वैचारिक पद्धति में अलग दिखें और एक तरह का भारतीय कनेक्ट इसमें से दिखे। मुझे लगता है कि 'पुस्तक यात्रा' एक ऐसा नवाचार और इतना अच्छा और इतना सुन्दर प्रयास था, जिसने कि बहुत सारे लोगों की आँखें खोलीं। एक अभूतपूर्व रिस्पॉन्स पुस्तक यात्राओं को गाँवों और क़स्बों में मिला। ये भ्रम टूटता–सा दिखता है कि लोगों की रुचि किताबों में नहीं है।

विनय, हुआ यह है कि हम बड़े शहर से और बड़े शहर से और बड़े शहर तक की यात्रा करते रहे, लेकिन हमने कभी जो रिवर्स यात्रा है वो नहीं की है। क्योंकि हम साहित्य जिनके लिए सृजित कर रहे हैं, जिनको

शामिल करना चाहते हैं, उन तक तो हम पहुँचते ही नहीं हैं। फिर ये शिकायत करते हैं कि हमारी किताबें नहीं बिक रही हैं या हमारे लेखक या पाठक कम होते जा रहे हैं।

**जो रिश्ता 'पुस्तक यात्राओं' के दौरान बना, किस हद तक इसे स्थायी आप बनाना चाहते हैं? इसको क़ायम रखना चाहते हैं?**

– हमारे पाँचों विश्वविद्यालयों ने तय किया है, अभी इस पर बातचीत हुई है। पहली बात तो यह कि हम इसको वार्षिक यात्रा बनाएँगे और हर साल एक पुस्तक यात्रा व्यापक स्तर के रूप में निकाली जाएगी। हमारे प्रकाशक बन्धुओं ने भी यह कहा है कि क्या हम एक ऐसा समन्वित प्रयास कर सकते हैं, जिसमें विश्वविद्यालय भी हैं और लोग भी शामिल हों, प्रकाशक भी शामिल हों, राष्ट्रीय यात्रा निकालें। मैं यह सोचता हूँ कि मैं बड़ी संख्या में 'पुस्तक मित्रों' का निर्माण करूँ। क़रीब-क़रीब एक लाख 'पुस्तक मित्र' बनाने की योजना है, जो दस लाख तक भी जा सकती है। इस यात्रा को आगे ले जाएँगे और साथ में एक ऐसा सम्बन्ध स्थापित करेंगे जिसमें कि हम उनके पास तक जाएँगे और वो हमारे पास तक आएँगे।

● ● ●

# जहाँ हर पृष्ठ
# सांस्कृतिक दस्तावेज़ है

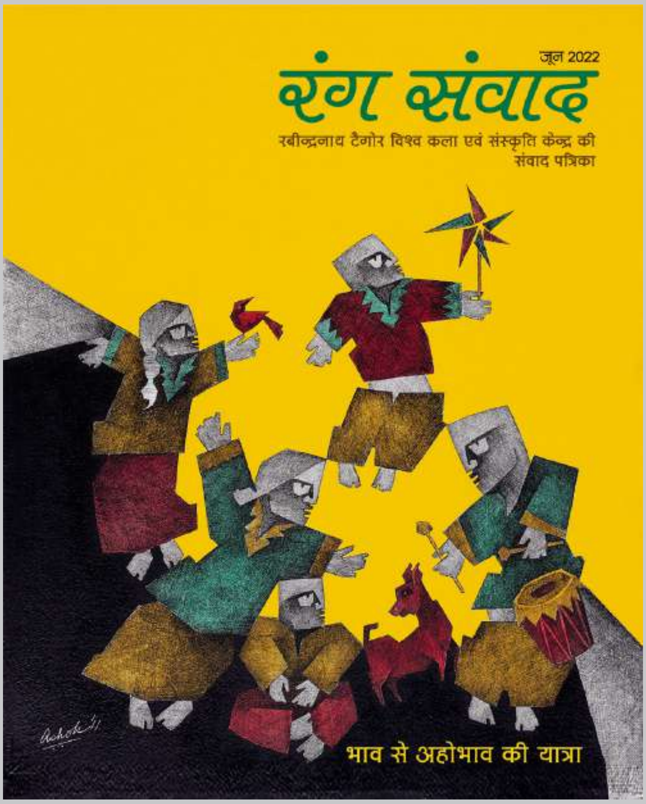


**संपादकीय संपर्क:**
टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र
ऋतुरंग प्रकोष्ठ
रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्व विद्यालय
ग्राम मेंदुआ, पोस्ट–भोजपुर, बंगरसिया चौराहा के पास,
भोपाल–चिकलोद रोड, रायसेन–464993
मो. 9826392428 फोन नं. 0755–2423806

ई–मेल : vinay.srujan@gmail.com • tagorekalabpl@gmail.com

# कथादेश

## भारत के हिन्दी कथाकारों पर केन्द्रित कथाकोश

TAGORE INTERNATIONAL LITERATURE & ARTS FESTIVAL

विश्व रंग

प्रधान संपादक **संतोष चौबे**

आईसेक्ट पब्लिकेशन

'कथादेश' के सम्पूर्ण सेट का मूल्य 17,820 रु. है। जिस पर निर्धारित छूट देय होगी।

**कथादेश के खंड निम्न समूहों के अनुसार भी क्रय किये जा सकते हैं :**

### धरोहर

(धरोहर, प्रेमचंदोत्तर कहानी-1 व 2)

**तीनों खंड एक साथ 2970 रु. ( छूट के साथ 2200 रु. )**

### नई व साठोत्तरी कहानी

(नई कहानी-1 व 2 तथा साठोत्तरी कहानी-1 व 2)

**चारों खंड एक साथ 3960 रु. ( छूट के साथ 3000 रु. )**

### समकालीन कहानी

(समकालीन कहानी-1, 2, 3, 4, 5, 6 व 7)

**सातों खंड एक साथ 6930 रु. ( छूट के साथ 5200 रु. )**

### युवा कहानी

(युवा कहानी-1, 2, 3 व 4)

**चारों खंड एक साथ 3960 रु. ( छूट के साथ 3000 रु. )**

डाक से मँगाने पर डाक खर्च अलग से देय होगा।

## 'कथादेश' प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें

### आईसेक्ट पब्लिकेशन

ई-7/22, एस.बी.आई., अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)-462016

फोन : 0755-4851056, 8818883165

E-mail : aisectpublications@aisect.org, mahip@aisect.org

### आईसेक्ट लिमिटेड

स्कोप कैम्पस, एनएच-12, होशंगाबाद रोड, भोपाल-462047

फोन : 0755-2432801, 2432830

'कथादेश'

अमेजन व आईसेक्ट ऑनलाइन पोर्टल पर भी उपलब्ध है

# टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र

## रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, भोपाल

## शिक्षा तथा संस्कृति की परस्परता का रचनात्मक उपक्रम

## अवधारणा, परिदृश्य और उद्देश्य

नई छात्र पीढ़ी में विज्ञान और तकनीकी शिक्षा के साथ संस्कृति, कला तथा साहित्य के प्रति जिज्ञासा, अभिरूचि, सृजन और संस्कारशील व्यक्तित्व गढ़ने के उद्देश्य से रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वकला एवं संस्कृति केन्द्र की स्थापना की गई है।

अपनी सक्रियता के चलते इस केन्द्र ने अध्ययन, शोध और प्रदर्शनकारी गतिविधियों के माध्यम से विश्वविद्यालय में अध्ययनरत छात्र-छात्राओं तथा विभिन्न विधाओं के अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त सर्जकों और विशेषज्ञों के बीच नवोन्मेषी रचनात्मक परिवेश तैयार किया है।

यह केन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, भोपाल, डॉ. सी. वी. रामन विश्वविद्यालय, बिलासपुर, खंडवा और पटना तथा आईसेक्ट विश्वविद्यालय हजारीबाग में समान रूप से संचालित है। भोपाल इसकी केन्द्रीय इकाई है।

विभिन्न ललित कलाओं, संस्कृति और साहित्य के विभिन्न पक्षों को अपनी गतिविधियों के दायरे में रखते हुए यह केन्द्र आंचलिक प्रस्तुतियों के अलावा शोध, विमर्श, संवाद, सृजन-शिविर, कार्यशालाओं, पुस्तक लोकार्पण, व्याख्यान, संपादन, अनुवाद और दस्तावेज़ीकरण की दिशाओं में सक्रिय है।

स्थानीय, प्रादेशिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय महत्व के अनेक आयोजनों ने सकारात्मक परिवेश तैयार किया है। इस केन्द्र की सक्रियता को साहित्य, ललित कलाओं और रंगमंच की श्रेणियों में देखा जा सकता है।

अपनी प्रवृत्तियों और उद्देश्यों के साथ टैगोर विश्वकला एवं संस्कृति केन्द्र बहुलता की संस्कृति का आदर करते हुए सौहार्द और समन्वय की पुनर्स्थापना के लिए कृत संकल्प है।

संपर्क

भोपाल-चिकलोद रोड, बंगरसिया चौराहे के पास, भोपाल, फोन : 0755-2700400, 2700404, मो. 9826392428

ई-मेल : tagorekala9@gmail.com, vinay.srujan@gmail.com

# अंतरंग

• किशोरी आमोणकर • मोहन आगाशे • पं. शिवकुमार शर्मा • जावेद अख़्तर • प्रभाकर श्रोत्रिय • संतोष चौबे • शोभना नारायण • मंगलेश डबराल • टॉम आल्टर • शेखर सेन • प्रमोद गणपत्ये • आशुतोष राणा • भज्जू श्याम • राजीव वर्मा • गगन गिल • संजय उपाध्याय • शारदा सिन्हा • देवेन्द्र राज अंकुर • नित्यानंद हल्दीपुर • यतीन्द्र मिश्र • राजेन्द्र गुप्ता • जयंत देशमुख • रतन चौहान • विभा मिश्रा


TAGORE INTERNATIONAL LITERATURE & ARTS FESTIVAL
विश्व रंग
भारतीय संस्कृति, वैश्विक मंच!
22 सितंबर से 20 नवंबर 2022
भारत एवं पचास अन्य देशों में